कायस्थ कौन है ?

भाग--१

रचयिता

धर्मद्विज-कुल-गुरु विविध-शास्त्रोपाध्याय

पं० रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री विद्याभूषण

प्रयाग-विश्वविद्यालय-संस्कृताध्यापनकृत्य-विरत

५७४, सुभाषनगर (मम्फोर्डगञ्ज), प्रयाग

प्रकाशक

प्रोफ़ेसर श्यामनारायण

(संस्कृत-प्राचार्य, चौ०म०प्र० डिग्रीकालेज)

श्रीचित्रगुप्त-प्रकाशन, ५७४, मम्फोर्डगञ्ज, इलाहाबाद-२

प्रथम सं० ५०००] फ़र्वरी, १९७२ [मूल्य २ रु०

कायस्थ कौन है ?

भाग—१

संजय श्रीवास्तव
१९-६-'८८

रचयिता

धर्मद्विज-कुल-गुरु विविध-शास्त्रोवव्याय

पं० रघुवर मिट्ठू लाल शास्त्री विद्याभूषण

प्रयाग विश्व विद्यालय

प्रकाशक

प्रोफ़ेसर श्यामनारायण

(संस्कृत-प्राचार्य, चौ० म० प० डिग्रीकालेज)

श्री चित्रगुप्त प्रकाशन, ५७४, मम्फोर्डगञ्ज, इलाहाबाद—२

प्रथम सं० ५०००] फ़र्वरी, १९७२ [मूल्य २ रु०

⊙ प्रकाशक
प्रोफ़ेसर श्यामनारायण
(संस्कृत-प्राचार्य, चौ० म० प्र० डिग्री कालेज)
श्री चित्रगुप्त प्रकाशन,
५७४, मम्फोर्डगञ्ज
इलाहाबाद–२
फोन नं० ४०४१

⊙ मुद्रक
अरविन्द प्रिण्टर्स
२० डी वेली रोड (नया कटरा)
इलाहाबाद–२
फोन नं० ४०३४

समर्पण

अपने पितृचरणों श्रीगिरिधारीलाल-रुक्मिणीदेवी, श्री६ गुरुवर्य रामदयालु वाजपेयी, श्रीरामदयालु मिश्र, श्रीलक्ष्मीनारायण शास्त्री, महामहोपाध्याय डा० गङ्गानाथ झा, श्री डा० ताराचन्द, डा० देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर, डा० टॉमस्, श्री १०८ स्वामिपरमानन्द गिरि, स्वर्गताग्रजानुज-भ्रातृद्वय-स्वतनूजगुरुदेवदत्तशर्मा एवं समस्त अध्यात्मचित्त मानवसमुदाय के यथार्हण पावन चरणों एवं करकमलों में, सब के इस तुच्छ जन द्वारा इन्हीं से प्राप्त ज्ञान के सूक्ष्म-विशाल बीज-वृक्ष का यह अमृत-फल, भक्तिपूर्वक समर्पित है ।।

प्रयाग, माघ कृ० १, सं० २०२८

—सब का अपना—र० मि० शास्त्री विद्याभूषण ।।

प्राक्कथन

प्रस्तुत निबन्ध "कायस्थ कौन हैं" मेरे चिरपरिचित पूज्य पं० रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री द्वारा प्रणीत हुआ है। श्रीशास्त्रीजी ने इसे लिखने के लिए नवीन शोध-सामग्री का आश्रय लिया है जो कदाचित् इस विषय के पूर्ववर्त्ती लेखकों को इतनी प्रचुर मात्रा में सुलभ न थी। यदि यह सामग्री पहले के निबन्धकारों को उपलब्ध हुई होती तो वर्त्तमान कायस्थ-जाति के उद्भव के विषय में उन्हें भ्रान्ति न हुई होती और न कलकत्ता, पटना और इलाहाबाद के उच्च न्यायालयों ने अपने निर्णयों में उन्हें शूद्र-वर्ण अथवा क्षत्रिय-वर्ण के अन्तर्गत परिगणित होने और करने की घोषणा ही की होती।

श्रीशास्त्रीजी ने अपने अगाध पाण्डित्य और शोध-सामग्री के सूक्ष्म और अद्भुत विश्लेषण द्वारा वर्त्तमान कायस्थ जाति को भारत के विभिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाले तत्कालीन ब्राह्मण समुदायों से काल-क्रम में प्रसूत सिद्ध किया है। जिन व्यक्तियों को प्राचीन तथा मध्ययुगीन भारतीय समाज के अभ्युदय तथा विकास के अध्ययन में रुचि है उन्हें इस निबन्ध को अवश्य पढ़ना चाहिए। कदाचित् कायस्थों के अतिरिक्त अन्य ऐतिहासिक जातियों के उद्भव और विकास की कहानी अधिक भिन्न न होगी।

शशिकान्त वर्मा

मुख्य न्यायाधीश,

१, जनवरी, १९७२ — उच्च न्यायालय, उ० प्र०

इलाहाबाद

कायस्थ कौन हैं

चित्रगुप्तं प्रणम्यादा—वात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
कायस्थजन्म याथार्थ्या-न्वेषणेनोच्यते मया ।।

"कायस्थ" शब्द संस्कृत के प्राचीन ताम्र-शासनों शिलालेखों और पुस्तकों में राजकीय पदाधिकारियों और कर्मचारियों (officers & officials अफ़सरों व अहल्कारों)—अर्थात् मन्त्री (दीवान), लेखक (सीक्रेटरी), गणक (एकाउण्टैण्ट मुहासिव और ज्योतिर्विद्), करा-धिकृत (अफ़सर मोहकम-ए-माल), इत्यादि—के सामान्य नाम के रूप में उपलब्ध होता है। कायस्थों का संक्षित परिचय इस निवन्व में मिलेगा।

इस शब्द की व्युत्पत्ति दिखाने से पूर्व इसके विविधार्थ-प्रयोगों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

'कायस्थ' शब्द का विविध अर्थों में प्रयोग

'कायस्थ' शब्द सम्भवतः सर्वप्रथम पुराणों में प्रयुक्त हुआ मिलता है। वहाँ यह और इसके पर्याय—मन्त्री, अमात्य, सचिव, प्राज्ञ, विचक्षण, पण्डित, धीमान्, इत्यादि—शब्द चित्रगुप्त देव के विशेषण अथवा उपाधि के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। पुराणों में चित्रगुप्त अधिकतर तो धर्मराज अथवा यमराज के मन्त्री (कायस्थ) माने गए हैं, परन्तु कुछ स्थलों में यम-धर्म-राज से अभिन्न देव-व्यक्ति के रूप में भी वर्णित हुए हैं।

पुराणों से भी पहले के सूत्र-ग्रन्थों में चित्रगुप्त का नाम तो मिलता है परन्तु वहाँ उनका विशेषण अथवा उपाधि—रूप 'कायस्थ' शब्द कहीं नहीं आता है। इस सम्बन्ध में "बौधायन-धर्मसूत्र"(बिब्लियोथेका संस्कृता, म्हैसुर, संख्या ३४) पृष्ठ २३६ खण्ड २५—अथवा "स्मृतीनां समुच्चयः" (आनन्दाश्रम, पूना) में "बौधायन-स्मृति" पृष्ठ ४५५, प्रश्न २ अध्याय ५, सूत्र १४० में "ओं चित्रगुप्तं तर्पयामि" तथा "कातीय तर्पणसूत्र" में—

"यमांश्चैके । यमाय धर्मराजाय मृत्यवे चान्तकाय च ।
वैवस्वताय कालाय सर्व-भूत-क्षयाय च ।।
औदुम्बराय दध्नाय नीलाय परमेष्ठिने ।
वृकोदराय चित्राय चित्रगुप्ताय ते नमः ।।
एकैकस्य…त्रींस्त्रीन् दद्याज्जलाञ्जलीन् ।
यावज्जन्मकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ।।"

ऐसे ही "आश्वलायनीय गृह्य-परिशिष्ट" (बिब्लियोथेका इण्डिका, कलकत्ता) के "अपीच्यवेषधरं……..चित्रगुप्तमावाहयामि ।" (२।४-६) इत्यादि वाक्य भी द्रष्टव्य हैं ।

यह तो पूर्व-काल की बात रही । पर-काल में भी १२वीं शताब्दी के सर्वोच्च दार्शनिक महाकवि श्रीहर्ष-विरचित "नैषधीय-चरित" महाकाव्य—"दृग्गोचरोऽभूदथ चित्रगुप्तः कायस्थ उच्चैर्गुण एतदीयः ।" तब ऊंचे गुणों वाले चित्रगुप्त दृष्टि-गोचर हुए, जो इन [यमराज] के 'कायस्थ' अर्थात् मन्त्री हैं (सर्ग १४, श्लोक ६६)—तक में चित्रगुप्त "इन (यम) के कायस्थ (अर्थात् मन्त्री, दीवान)" के रूप में परिचित होते आए हैं ।

नैषधीय-चरित के उक्त उद्धरण का प्रकरण यह है—

दमयन्ती के स्वयंवर में, उसके अलौकिक रूप-सौन्दर्य से आकृष्ट हुए, न केवल पृथिवीभर के प्रसिद्ध राजा-महाराजे बल्कि, उसे छलने के लिए देवलोक से आए हुए देव— इन्द्र वरुण यम अग्नि— भी, उपस्थित हुए । ये सब एक ही आकार-प्रकार (सूरत-शक्ल) वेष-भूषा वाले ५ नल थे । इनमें वास्तविक राजा नल तो एक ही हो सकते थे, परन्तु नक़ली ४ नल—इन्द्र वरुण यम अग्नि नामक—४ देव भी थे, जिनको रूप-वेष की एकता के कारण वास्तविक नल से पृथक् कर सकना, अर्थात् ५ में से असली नल को ढूंढ निकालना, दमयन्ती के लिए अतीव दुष्कर था । अन्ततः दमयन्ती की भक्ति से प्रसन्न होकर चारों देव अपने आप को सर्वथा छिपा न सके और उन्हें एक-एक कर के अपने चिह्नों के सहित प्रकट होना ही पड़ा ।

उक्त सन्दर्भ में यम-राज एक-दम अकेले नहीं, बल्कि इनके अनन्तर

उच्च गुणों वाले 'इनके कायस्थ' (अर्थात् 'मन्त्री') चित्रगुप्त जी भी, दृष्टि-गोचर हुए । यहाँ चित्रगुप्त जी स्वतन्त्र नहीं, किन्तु केवल यम के उपकरणों (paraphernalia) के रूप में उपवर्णित हुए हैं। यमदेव के देव-लोकीय कायस्थ चित्रगुप्त जी के उच्चगुण पुराणों में आए उनके विशेषणों—सत्यवादी (भविष्य-पुराण ब्राह्मपर्व १६२।३), दयालु-सौम्य, सर्वदर्शी, समदर्शी, मध्यस्थ (अ-पक्षपाती) (पद्मपुराण भूमिखण्ड ६८।४ तथा उत्तरखण्ड २२६।६) इत्यादि—द्वारा सङ्ग्राह्य हैं । इसी प्रकार भू-लोकीय कायस्थों के उच्चगुण—इण्डियन् ऐण्टिक्वेरी जिल्द १६ पृष्ठ ५६ पङ्क्ति १५—दक्षः प्राज्ञो विनीतात्मा गुरुभक्तः प्रियंवदः। तृप्तोऽर्थे रौपकश्चास्मिन् कायस्थो गोमिकाङ्गजः ॥—इत्यादि प्राचीन लेखों में सुपरिचित, तथा विविध स्मृति-ग्रन्थों से सङ्गृहीत—शुचि (विशुद्धात्मा), जित-क्रोध, तृप्त (सन्तोषी, अलुब्ध), प्रिय-सत्यवादी, सर्व-शास्त्र-विशारद होना, इत्यादि हैं ।

पुराणों के पश्चात् 'कायस्थ' शब्द का प्रयोग देवलोक की सीमा से उतर कर मानव-सीमा-बद्ध होता हुआ मर्त्य-लोक-स्थ राजकीय 'अधिकरणों' (Departments मुहकमों, सदर दफ़्तरों) के, तथा उनसे सम्बद्ध 'करणों' (Offices दफ़्तरों) के, सभी छोटे बड़े अधिकारियों और कर्मचारियों के अर्थ में—"विष्णु-धर्मसूत्र" (विष्णु-स्मृति) अध्याय ७ गद्यांश ३—"राज्याधिकरणे तन्नियुक्त-कायस्थ-कृत तदध्यक्षकरचिह्नितं राजसाक्षिकम्"—अर्थात् राज्य के सदर दफ़्तर में राजा के मुक़र्रर किए हुए 'कायस्थ' = राजलेखक का लिखा हुआ और उसके अध्यक्ष अर्थात् हेड ('प्रथम' अथवा 'ज्येष्ठ') कायस्थ के हाथ (हस्ताक्षर अथवा मुद्रा = मुहर) से चिह्नित काग़ज़ = दस्तावेज़ 'राजा के साक्षी वाला' कहलाता है, इसी प्रकार याज्ञवल्क्यस्मृति "चाट-तस्कर-दुर्वृत्त-महासाहसिकादिभिः । पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत् कायस्थैश्च विशेषतः ॥ (१।३३६), तथा दामोदरपुर (ज़िला दीनाजपुर—बङ्गाल) से प्राप्त पञ्चम-शताब्दीय गुप्त-कालिक ताम्रशासनों (एपिग्राफ़िया इण्डिका, जिल्द १५ पृष्ठ १३०......) इत्यादि में मिलता है,—और इसी अर्थ में काश्मीरिक

क्षेमेन्द्र (११ वीं शताब्दी), एवं राजतरङ्गिणी-कारों—कहलण (१२ वीं शताब्दी), श्रीवर (१५वीं शताब्दी) तथा प्राज्यभट्ट (१६ वीं शताब्दी)—के समय तक उपलब्ध होता है। और इसी अर्थ में इस ('कायस्थ' शब्द) के पर्याय—दिविर, नियोगी, महत्तम, कार्यी, अधिकृत (अधिकारी, अधिकार-स्थ), कार्य-स्थ, करणिक, इत्यादि—शब्द भी प्रयुक्त होते रहे हैं, जिनमें "कार्य-स्थ" विशेषतः विचारणीय है।

क्षेमेन्द्र (व्यासदास)-कृत "नर्म-माला" (कश्मीर-ग्रन्थावलि, सङ्ख्या ४० के अनुसार "कायस्थ" का सर्वोच्च ध्येय "गृहकृत्याधिपति" अथवा "गृह-कृत्य-महत्तम" (Home Minister) का पद होता था। इस मन्त्री के आश्रित, दीवानी (Civil), फ़ौजदारी (Military) और धर्मार्थ (Religious Endowments) अधिकरण (Departments), हुआ करते थे। यह, ७ कार्य-सञ्चालक उच्चतम पदाधिकारियों का स्वामी होता था और ८ अर्दली सदा इसकी सेवा में रहते थे। इसे अपने अधीन पदाधिकारियों को स्वेच्छानुकूल चुनने का अधिकार (स्वातन्त्र्य) होता था। इससे उतर कर "परिपालक" (प्रान्तीय शासक Provincial Governor) का पद था। परिपालक का ऑफ़िस-सुपरिण्टेण्डेण्ट "लेखकोपाध्याय" कहलाता था, जो 'गोपनीय-लेख-कार्यालय' का स्वामी और कुशलतम गणक ("आय-व्यय-समीकर्ता") होता था। इनके अतिरिक्त "गञ्ज-दिविर" (कोषाधिकारी, जो पीछे "गञ्जवर" हुआ और अब कश्मीरियों में "गञ्जूर" वंश-नाम से ज्ञात है), "नियोगी" (परगना-निरीक्षक, तहसीलदार), "आस्थान-दिविर" (न्यायालय-लेखक), "ग्राम-दिविर" (पटवारी), इत्यादि, अन्य छोटे-बड़े [तथा राजतरङ्गिणी-वर्णित "राजस्थानाधिकारी" (Chief-Justice), "अर्थ-नायक" (Prefect of Property), "पट्टोपाध्याय" (Registrar of Deeds), इत्यादि] पदाधिकारी भी "कायस्थ" समुदाय में परिगणित होते थे।

उक्त दो अर्थों (चित्रगुप्त अर्थात् देवलोकस्थ यम-मन्त्री, और मर्त्य-लोक-स्थ राजकीय उच्च अफ़सर और कर्मचारी रूप मानव समुदाय-

विशेष) के अतिरिक्त, मेदिनीकोश—"कायस्थः परमात्मनि । नर-जाति-विशेषे ना" (अर्थात् पुँल्लिङ्ग "कायस्थ" शब्द 'परमात्मा' के अर्थ में और 'मनुष्यों के जाति-भेद' के अर्थ में आता है)—के अनुसार 'कायस्थ' शब्द का एक और (तीसरा) अर्थ "परमात्मा" भी है। इस अर्थ में 'कायस्थ' शब्द के प्रयोग के लिए गौडपादीय-दीपिका-सहित "उत्तर-गीता" (गुजराती प्रेस, बम्बई से प्रकाशित) के प्रथम अध्याय के श्लोक २७-३१ (विशेषतः १।२८—"काय-स्थोऽपि न कायस्थः काय-स्थोऽपि न जायते । काय-स्थोऽपि न भुञ्जानः काय-स्थोऽपि न बध्यते । काय-स्थोऽपि न लिप्तः स्यात् काय-स्थोऽपि न बाध्यते ।।") और पूर्वोक्त क्षेमेन्द्र-कृत "नर्म-माला" के प्रथम परिहास का यह प्रथम श्लोक द्रष्टव्य है।

"येनेदं स्वेच्छया सर्वं मायया मोहितं जगत् ।
स जयत्यजितः श्रीमान् कायस्थः परमेश्वरः ।।

इनमें से "उत्तरगीता" के उक्त उद्धरण (१।२८) का अर्थ यह है—

"शरीरों में रहता हुआ भी [उन] शरीरों में सीमित नहीं है। शरीरों में रहता हुआ भी उत्पन्न नहीं होता है। शरीरों में स्थित हुआ भी [सुख-दुःखादि] भोगता हुआ नहीं है, शरीरों में स्थित हुआ भी बन्धन में नहीं आता है। शरीर-स्थ हुआ भी [पाप-पुण्य से] लिप्त नहीं होता है, शरीर-स्थ हुआ भी बाध (अपलाप) का विषय नहीं होता है।"

और "नर्म-माला" के प्रथम श्लोक का अर्थ यह है—

"जिसने इस समस्त जगत् को स्वेच्छा से अपनी माया के द्वारा मोह (अज्ञान) में डाल रक्खा है, वह (सः) किसी से न जीता गया (अजितः), सब शरीरों में रहने वाला परमात्मा (काय-स्थः), लक्ष्मी का स्वामी (श्रीमान्,) ईश्वरों का परम ईश्वर (परमेश्वरः-अर्थात् महेश्वर), सर्वोत्कर्ष से विराजमान है (जयति) अर्थात् कोई न तो उसके बराबर है और न उससे अधिक है ।।"

यह तो मङ्गलाचरणरूप वाच्यार्थ हुआ। और परिहासरूप व्यङ्ग्यार्थ यह है—

"वह (सः) सर्वोपरि समर्थ अर्थात् परम स्वतन्त्र (परमेश्वरः),

किसी से न दबने वाला (अजितः), और धनाढ्य (श्रीमान्), राजकीय पदाधिकारी वा कर्मचारी (कायस्थः), सबसे उत्कृष्ट होकर रहता है (जयति), जिसने स्वेच्छा से इस सारे जगत् को [अपने कूट-लेखादि की] माया से मोहित किया (भुलावे में डाल रक्खा) है ॥"

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के तृतीय खण्ड, अध्याय ५१, श्लोक १३—

"चित्रगुप्तो विनिर्दिष्टि-स्तथात्मा सर्व-देह-गः ।
पत्रं धर्ममधर्मं च करस्था तस्य लेखनी ॥"

"तथा (उसी प्रकार से) सब देहों में रहने वाला आत्मा [जो गीता अध्याय १३ श्लोक २ में 'सब क्षेत्रों अर्थात् शरीरों में रहने वाला क्षेत्र-ज्ञ' और अध्याय १५ श्लोक १६-१८ में 'क्षर और अक्षर पुरुषों से परे पुरुषोत्तम अथवा उत्तम पुरुष और परमात्मा' कहा गया है] चित्रगुप्त के रूप से विनिर्दिष्ट (चित्रित) किया गया है, धर्म और अधर्म रूप पत्र और लेखनी उनके हाथ में है"—में चित्रगुप्त जी [जो अन्यत्र यम-धर्मराज के 'कायस्थ' अर्थात् 'मन्त्री' कहे गए हैं] स्वयं ही 'सभी देहों में रहने वाला आत्मा (अर्थात् अन्तर्यामी परमेश्वर)' बताए गए हैं ।

यहां 'कायस्थ' शब्द न होते हुए भी उसी के पूर्व-वर्णित प्रथम और तृतीय अर्थों का एकीकरण लक्षित होता है ।

यही सर्वात्मा अन्तर्यामी परमेश्वर,—जो बृहदारण्यकोपनिषद् के अन्तर्यामि-ब्राह्मण में—"एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (यह अन्तर्यामी अमर तेरा आत्मा है)—कह कर,और मनुस्मृति (८।९२)—"यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः । तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः ॥" अर्थात् जो यह विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र यम (नियमन करने वाला अन्तर्यामी) देव तुम्हारे हृदय में (गीता १८।६१ के अनुसार अन्तर्यामी ईश्वर रूप से) स्थित है, उससे यदि तुम्हारा अ-विवाद (मतैक्य) है अर्थात्, अन्तःकरण शुद्ध और निष्पाप है, तो गङ्गा और कुरुक्षेत्र मत जाओ (जहाँ पापों के प्रक्षालन के लिए जाना होता है)"—में नियामक, हृदयस्थ और साक्षी वैवस्वत यमदेव के रूप में निरूपित हुआ है,—यही विष्णुधर्मोत्तर से उद्धृत उक्त श्लोक में चित्रगुप्त के विग्रह और नाम से उपवर्णित हुआ है ।

उक्त तीन प्रकार के अर्थों के सम्बन्ध से 'कायस्थ' शब्द की व्युत्पत्ति भी अनेक प्रकार की होगी ।

'कायस्थ' शब्द की व्युत्पत्ति

आश्वलायनीय गृह्य-परिशिष्ट (२।४-६) तथा च पुराणों के अनुसार नव-ग्रहों में अन्तिम (नवम) केतु ग्रह की अधिदेवता और प्रत्यधिदेवता क्रमशः ब्रह्मा जी और चित्रगुप्तजी हैं, ये कहीं-कहीं (यथा भविष्य-पुराण उत्तरपर्व अध्याय १४१ श्लोक १६ में) विपरीत क्रम से भी निर्दिष्ट हुए हैं। इधर चित्रगुप्तजी ब्रह्माजी के ध्यान-ज पुत्र भी हैं। उत्पत्ति से पूर्व ये चित्रगुप्तजी ब्रह्माजी के 'काय' (शरीर) में ही 'स्थित' थे, जो ध्यान से प्रकट हो गए। सर्वात्मा चित्रगुप्त की (जो कुछ पुराणों में 'भगवान्' और 'परमेश्वर' भी कहे गए हैं) उत्पत्ति उसी प्रकार से प्राकट्य-रूपा है जैसे व्यापक ब्रह्म का, कृष्णरूप से—"विष्णुः सर्व-गुहाशयः । आविरासीत्"—भागवत (१०।३।८) में, अथवा राम-रूप से—"आविरासीज्जगन्नाथः परमात्मा सनातनः ।।"—अध्यात्मरामायण (१।३।१५) में, और तदनुसार ही—"भए प्रकट कृपाला दीनदयाला"—रामचरितमानस में, प्रकट होना । अतः वे "ब्रह्म-काय-स्थ," अथवा सङ्क्षपतः केवल "काय-स्थ" कहलाए ।

पुराणादि से चित्रगुप्त देव का वर्ण "ब्राह्मण" ही सिद्ध होता है। यथा बम्बई से प्रकाशित भविष्य-पुराण प्रतिसर्ग-पर्व चतुर्थखण्ड, अध्याय २३, श्लोक ६७-६८—सद्-गुणो ब्राह्मणो वर्णः क्षात्रियस्तु रजो-गुणः । तमो-गुणस्तथा वैश्यो गुण-साम्यात् तु शूद्रकः ।।—के अनुसार, ब्राह्मणवर्ण सत्(सत्त्व)-गुण-प्रधान, क्षत्रिय रजो-गुण-प्रधान, वैश्य तमोगुणी और शूद्र तीनों गुणों की समता वाला होता है। वहीं अध्याय २५ के श्लोक ३० में चित्र-देव (जिन का चित्रगुप्त से सदा साहचर्य और कदाचित् भ्रातृत्व अथवा प्रायेण अभेद भी अभिमत है) भगवान् की स्तुति करते हुए अपना परिचय यों देते हैं—"ब्रह्माण्ड-सद्-गुणाज्जात—श्चित्रोऽहं मनुकारकः। मया ततं च त्रैलोक्यं स्वायम्भुव नमोऽस्तु ते ।।"—मैं ब्रह्माण्ड के सत्(सत्त्व)-गुण से उत्पन्न और मनुओं का बनाने वाला चित्र हूँ ।

मुख से त्रैलोक्य व्याप्त है । हे स्वायम्भुव तुम्हें नमस्कार हो। यह तो हुई जन्म से चित्रगुप्त के ब्राह्मणत्व की बात ।

कर्म से भी—पद्मपुराण ब्राह्मखण्ड अध्याय २ और ६ और १६-१७ में चित्रगुप्त 'सचिव' 'अमात्य' और 'मन्त्री' लिखे गए हैं और सृष्टिखण्ड अध्याय ७७ के अनुसार 'मन्त्री' ब्राह्मण ही होता है, जैसा कि मनुस्मृति ७।५८......, से भी सिद्ध है, यथा—"सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता । मन्त्रयेत् परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्य-संयुतम् ॥" मनु० ७।५४ में वर्णित सभी शास्त्र-वित् कुलीन ७-८ सचिवों में से विशिष्ट विद्वान् ब्राह्मण के साथ राजा सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध, आश्रय इन ६ गुणों से संयुक्त सर्वोच्च मन्त्र की मन्त्रणा करे । (मनु० ७।५९-६० के अनुसार) उस पर पूर्ण-विश्वास-सहित सभी राज-कार्यों को डाल दे और उसी के साथ निश्चय करके कर्म प्रारम्भ करे । अन्य भी कतिपय सु-परीक्षित शुद्ध और बुद्धिमानों को अमात्य नियत करे ।

ब्रह्म-पुराण २१५।५६ और शिवपुराण उमा-संहिता अध्याय ७ के अनुसार "चित्रगुप्त भगवान् पापियों को धर्म-वाक्यों से प्रबोधित करते हुए" जज अथवा सरकारी वकील का वही कार्य करते हैं जैसा मनु० ८।९,७९,१०१ में ब्राह्मण प्राड्-विवाक का, मुद्दई (अर्थी) मुद्दाअलैह (प्रत्यर्थी) और साक्षियों (गवाहों) के सम्बन्ध में, बताया गया है । इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्तपुराण ३२।३६ और पद्मपुराण सृष्टिखण्डोपनाम क्रियाखण्ड अध्याय ५६ के वर्णनानुसार, चित्रगुप्तजी यम-धर्मराज के यहाँ दण्ड-निर्धारण अर्थात् 'जज' का कार्य करते हैं । यह कार्य भी मनु० ८। ९,११,२० और याज्ञवल्क्य २।२-३ इत्यादि के अनुसार सर्व-धर्म-वित् विद्वान् ब्राह्मण के लिए ही नियत है ।

चित्रगुप्त जी इसी पुराण के उत्तर-खण्ड ६८।१४ में 'धर्माधिकारी, वाराहपुराण अध्याय २०१ में सुव्रत, भगवान्, परमेश्वर, न्यायाधीश, महात्मा, सर्व-प्राणियों के लिए सम, 'सर्व-धर्मानुचिन्तक' और 'धर्मिष्ठ' वाराहपुराण १८९।२५-३८ में न्यायाधीश, 'पण्डित' और २०१।२५ में 'वैद्य', शिवपुराण उमासंहिता ८।८१-८३ में 'धर्म-लेख लिखने वाले,'

भविष्यपुराण उत्तर-पर्व ८६।१२ में 'धर्माधिकरण-स्थ लेखक,' बृहन्नारदीयपुराण (कलकत्ता) अध्याय २१ अथवा (बम्बई) अ० २२ में 'पण्डित,' तथा शिवपुराण उत्तरखण्ड अ०३ में यम के 'कायस्थ' और 'लेखक' कहे गए हैं। ये सब उपाधियाँ अथवा पद ब्राह्मणत्व-सूचक ही हैं।

ब्रह्माजी और चित्रगुप्तजी के स्वरूप और हस्त-गत चिह्न (वस्तु) भी इसी बात के सूचक हैं कि जैसे यज्ञों और वेदों का ज्ञान प्रकट करने वाले ब्रह्माजी केतु के अधिदेवता रूप से ब्राह्मण हैं वैसे ही लेखनी और पत्र द्वारा सब मनुष्यों के पुण्य-पापों का ज्ञान रखने वाले चित्रगुप्त जी भी प्रत्यधिदेवता रूप से ब्राह्मण ही हैं। दोनों का स्वरूप क्रमशः "पुरोहित" और "मन्त्री" के कार्यों का सूचक हैं, जो (पुरोहित और मन्त्री) सभी प्रमाणों से ब्राह्मण ही होते हैं। और पुराणों में न मिलने वाली परन्तु पुराणों के नाम से १००-२०० वर्षों अथवा गत ४०० वर्षों के भीतर रची उन सभी बड़ी-छोटी कथाओं का भी जिनमें चित्रगुप्त-कायस्थ ब्रह्माजी के ध्यान-ज पुत्र माने गए हैं यही आधार ज्ञात होता है।

वाराहपुराण अ०१ ०में श्राद्धादि में वर्ज्य ब्राह्मणों के अन्तर्गत राजकीय कर्मचारी, गणक, ज्योतिषी और लेखक ब्राह्मणों का भी उल्लेख है।

इसी प्रकार से मनु० ३।१५२-१५३, १६७, इत्यादि धर्मशास्त्रीय आधार पर परम्परया अवलम्बित, सन् १६१०-१६५० ई० के कमलाकर भट्ट-रचित "निर्णय-सिन्धु" (निर्णय-सागर प्रेस बम्बई १६०६) पृष्ठ २८२ के—'वर्ज्यान् प्रवक्ष्ये········। नक्षत्रशास्त्रेण च जीवमानान् भैषज्य-वृत्त्याऽपि च राजभृत्यान् । सङ्गीत-कायस्थ-कुसीद-वृत्त्या वेदक्रयेणापि कवित्व-वृत्त्या ।'—इस उद्धरण में हव्य-कव्य में वर्जित ब्राह्मणों के मध्य में ज्योतिष और वैद्यक की जीविका वाले, राजा के नौकर, 'कायस्थ' (लेखक) की जीविका वाले, इत्यादि ब्राह्मणों का उल्लेख है। कमलाकर-भट्ट-कृत "शूद्र-कमलाकर" में सूत-जाति की जीविका 'मन्त्री होना' 'कायस्थ होना,' इत्यादि बतलाकर, 'कायस्थ' का अर्थ 'लेखक' किया गया है। इससे सिद्ध है कि १७वीं शताब्दी तक 'कायस्थ' शब्द पेशे का अर्थ देता आता था। वर्ज्य ब्राह्मणों का उल्लेख कमलाकर ने हेमाद्रि-कृत

चतुर्वर्ग-चिन्तामणि" दानखण्ड अ०३ का और पृथ्वीचन्द्रोदय का साक्षात् आधार लेकर किया है।

मेदिनी-कोशानुसार पुँल्लिङ्ग 'काय' शब्द—"कायः क-दैवते, मूर्तौ. सङ्घे लक्ष-स्वभावयोः। [मनुष्यतीर्थे कायं स्यात्]"—इन पहले पाँच अर्थों में प्रयुक्त होता है। अतः प्रथम अर्थ (क-दैवत) के अनुसार—जिस की अधिदेवता 'क' (प्रजापति, ब्रह्मा जी) हैं उस—केतुग्रह को भी काय" कहा जाना चाहिए। उस 'काय' (धड़) रूप केतुग्रह में जो [चित्रगुप्तजी प्रत्यधि-देवता रूप से] रहते हैं वे (काये तिष्ठति—इति) "काय-स्थः" हुए।

अथवा 'क' (ब्रह्माजी) के ही, ध्यान से प्रकट होने के पूर्व, उन के देह ('मूर्ति') में ही 'स्थित' होने के कारण चित्रगुप्तजी, 'काय' के दूसरे अर्थ (मूर्ति) के सम्बन्ध से भी, (काये तिष्ठति—इति) "[ब्रह्म]-काय-स्थः" हुए।

इन दोनों व्युत्पत्तियों से पुराणादि-वर्णित चित्रगुप्तजी "काय-स्थ" हैं। अर्थात् यह उभयरूप की व्युत्पत्ति "कायस्थ" शब्द के तीन अर्थों में से प्रथम अर्थ से ही मुख्य सम्बन्ध रखती है।

अथवा 'काय' के तीसरे अर्थ (सङ्घ) के सम्बन्ध से, मानव-समुदायों (सङ्घों) वा धनादि के समूहों (सङ्घों) के ऊपर जो राजकीय पदधारी अथवा कर्मचारी रूप से स्थित हों वे (कायेषु तिष्ठन्ति—इति) "कायस्थाः" हुए। यह व्युत्पत्ति "नरजाति-विशेषे" इस मेदनी-वर्णित "कायस्थ" शब्द के दूसरे अर्थ से सम्बन्ध रखती है। "विवादार्णव-सेतु" -नामक धर्मशास्त्र-निबन्ध-ग्रन्थ के (जिस का विवरण आगे आएगा) पृष्ठ ५ के अनुसार "कायो मूल-धनम्" 'काय' मूलधन को कहते है। विश्वकोश और अजयकोश (अमरकोश की व्याख्यासुधा में उद्धृत) में "करण" का एक अर्थ 'काय' भी दिया गया है। यदि इस से 'दफ़्तर' अभिप्रेत हो तो 'काय-स्थ' दफ़्तरों के राज-काज (सरकारी लिखा-पढ़ी) में व्यापृत लोगों का नाम होगा।

स्वर्गीय प० कामताप्रसाद श्रीवास्तव्य (खरे) कालीमहल (वाराणसी) कृत "चित्र-वंश-निर्णय" भाग २ की प्रस्तावना में दिए हुए, प्रयाग के

श्री सत्यजीवन वर्मा के पितृ-चरण स्वर्गीय बा० जगन्मोहन वर्मा जी के, मत से (काय) शब्द राज-सभा का भी नाम है, और उस में सभासदादि रूप से स्थित होने वाले अर्थात् राजकीय कर्मचारी 'काय-स्थ' कहलाए। अथवा 'काय' के चौथे अर्थ 'लक्ष' यद्वा 'लक्ष्य' को दृष्टि में रखते हुए आगे उद्धृत मनु० (७।८१) के वचनानुसार समस्त राज-'कार्यों' में लगे लोगों का पर्यवेक्षण (supervision) करने वाले सभी विभागाध्यक्ष, "काये' (लक्ष्य या पर्यवेक्षण में) 'स्थ' (स्थित) अर्थात् "कायस्थ" कहलाए।

पुन: जो कायों (मूर्तियों, शरीरों) में सर्वात्मा होकर स्थित है वह (कायेषु तिष्ठति, इति) काय-स्थ: (परमात्मा, परमेश्वर) है। इस व्युत्पत्ति का सम्बन्ध 'कायस्थ' शब्द के तीसरे अर्थ से है, जो (अर्थात "परमात्मा, अन्तर्यामी परमेश्वर") विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार चित्रगुप्त का वास्तविक स्वरूप है।

एवं च 'क' (प्रजापति, ब्रह्मा) देवता वाले सङ्घ अर्थात् हिरण्य-गर्भोपासक वैदिक ब्राह्मण वर्ग में ही जो पहले स्थित रहा, वह पीछे वृत्ति (जीविका)-भेद से बना 'नर-जाति-विशेष', "काय-स्थ" हुआ। यहां 'काय' शब्द का 'क-दैवत' (विशेषण) और 'सङ्घ' (विशेष्य) रूप से सम्मिलित अर्थ लेने में कोई अनौचित्य नहीं है।

'क-दैवत' इस विशेषणात्मक अर्थ में 'काय' शब्द विशेष्यनिघ्न अर्थात् विशेषण होकर नपुंसकलिङ्ग विशेष्य शब्दों के साथ नपुंसकलिङ्ग में भी प्रयुक्त होगा। तब 'काय' शब्द का 'क-दैवत' वाला अर्थ उक्त पांच विकल्पों में से जिन दो (प्रथम और पञ्चम) प्रकारों में वर्णित हुआ है उनमें से अन्तिम प्रकार की एक व्याख्या यह भी हो सकती है—

मनुस्मृति (२।५८-५९) और याज्ञवल्क्य स्मृति (१।१९) इत्यादि में 'काय' शब्द प्राजापत्य तीर्थ (छोटी दो अङ्गुलियों के मूल में आचमन करने के स्थान) के लिए आता है जो मेदिनी का बताया हुआ मनुष्य-तीर्थ है। काय 'शब्द' में 'क' अंश प्रजापति ब्रह्मा का वाचक है और उस से 'तस्येदम्' (तदीयम्) "उन प्रजापति का" इस प्रकार के अर्थ में 'अण्'

प्रत्यय लग कर, जैसे "कायम्" शब्द 'प्राजापत्य तीर्थ' का बोधक बनता है, ठीक वैसे ही बना हुआ "कायम्" शब्द "प्राजापत्य स्थान" का भी बोधक होगा। पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अध्याय ३ श्लोक १५५-१५६—"प्राजापत्यं ब्राह्मणानां स्मृतं स्थानं तु पार्थिव। स्थानमैन्द्रं क्षत्रियाणां सङ्ग्रामेष्वनिवर्तिनाम्॥ वैश्यानां मारुतं स्थानं स्वधर्ममनुवर्तिनाम्॥ गान्धर्वं शूद्रजातीनां परिचर्यानु वर्तिनाम्॥ के अनुसार "प्राजापत्य स्थान" ब्राह्मणों का, "ऐन्द्र" स्थान युद्धों में पीठ न दिखाने वाले क्षत्रियों का, "मारुत" स्थान वश्यों का और "गान्धर्व" स्थान शूद्र-जातियों का होता है। इस को दृष्टि में रखते हुए 'काय'+'स्थ' इस यौगिक शब्द का अर्थ होगा "प्राजापत्य स्थान" (=ब्राह्मणों के स्थान) में स्थित। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि "कायस्थ" नाम से प्रसिद्ध होने वाले लोगों की "ब्राह्मणों के स्थान में स्थिति" का सङ्केत करने के लिए ही इस "नर-जाति-विशेष" का यह नाम रक्खा गया था। जब इस प्रकार से "ब्राह्मणों में परिगणित" होने का अर्थ इस "कायस्थ" शब्द में ही विद्यमान है तो इस शब्द के साथ फिर सामान्य-वाचक 'ब्राह्मण" शब्द, अथवा उस का पर्याय "ब्रह्म" (ब्राह्मण जाति), पहले अथवा पीछे जोड़ कर, "ब्राह्मण कायस्थ"="ब्रह्म-कायस्थ" अथवा "कायस्थ ब्राह्मण" जैसे लम्बे नाम का प्रयोग में लाया जाना "पुनरुक्त" दोष-पूर्ण वा अनावश्यक माना जाकर केवल "कायस्थ" नाम ही पर्याप्त समझा गया था।

व्याकरणानुसार, इन पाँच प्रकारों में से, पहले और पाँचवें प्रकार में "काय" शब्द तद्धितान्त है जो—"कः प्रजापति-र्देवतास्येति कायः। कस्येत् (पा० ४।२।२५) इत्यण् इदन्तादेशश्च"—प्रजापति-वाचक 'क' शब्द में 'अण्' प्रत्यय के सन्नियोग से इकारान्त आदेश होकर बनता है। द्वितीय तृतीय और चतुर्थ प्रकार में "काय" शब्द कृदन्त है जो—"निवास-चितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः (पा० ३।३।४१)—के अनुसार 'चिञ् चयने' धातु में 'घञ्' प्रत्यय के लगने और 'च' का 'क' होने पर बनता है। फिर सभी (पांचों) अवस्थाओं में कृदन्त वा तद्धितान्त 'काये (सप्तमी एकवचन) अथवा 'कायेषु' (सप्तमी बहुवचन) सुवन्त उपपद

के रहते हुए "सुपि स्थः" (पा० ३।२।४) के अनुसार 'स्था' (ष्ठा गति-निवृत्तौ) धातु में 'क' प्रत्यय जुड़ने पर "काय-स्थ" शब्द बनता है।

राजतरङ्गिणी का कार्य-स्थ' (७।११७७; ७।१३१९; ८।२९३-२९४) शब्द भी 'कार्यी' शब्द के ही समान राजकीय 'कार्य' (नियोग) में लगे हुए कायस्थों (नियोगियों) के लिए प्रयुक्त हुआ है। परन्तु, "कार्यस्थ" का ही रेफ घिस कर "कायस्थ" हो गया है ऐसा समझ बैठना एक अतीव भ्रान्त धारणा होगी, क्योंकि 'कायस्थ' शब्द का प्रयोग, पुराणों स्मृतियों और प्राचीन लेखों में, राजतरङ्गिणी वाले इस अर्वाचीन 'कार्यस्थ' शब्द की अपेक्षा प्रायः एक सहस्र वर्ष पहले से ही चला आ रहा था। इन दोनों (कायस्थ और कार्यस्थ) शब्दों में व्युत्पत्ति (योग) का विभेद रहते हुए भी राजकीय पदस्थ अथवा कर्मचारी रूप रूढार्थ-विषयक कोई बड़ा अन्तर नहीं है, जैसा कि राजतरङ्गिणी-गत— "चण्पकं द्वारकार्यस्थमभिसन्धातुमैहत (७।११७७)।। यथा द्वार-पतिस्तथा। कार्यस्थः कम्पने राज्ञः सहेलोऽभून्महत्तमः (७।१३१९)।। द्वारकार्यान्निवारितः।। विक्रान्तः स हि कार्यस्थो निर्जिताखिलडामरः (८।२९३-२९४)।" में, 'कार्यस्थ' शब्द के इन प्रयोगों के साथ इन्हीं से मिलते जुलते अन्य शब्दों के भी—"द्वारे[अधिकारी] (६।३६४, ८८७ और ८।२९३), सर्वाधिकारे विदधे कायस्थं गौरकाभिधम् (८।५६०), द्वारपादाग्रयोरधिकारः (८।१९६४), द्वाराधिकारकारी (७।२१६), द्वाराधिकारी (७।९९५, ११७८ और ८।१०४२), द्वारनायक (८।१८५), द्वारकार्यम् (८।७९०), द्वारकर्मस्थानाधिकारी (८।१४८२)"—ऐसे-ऐसे प्रयोगों की तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है। 'कायस्थ' और 'कार्यस्थ' में केवल शब्द और अर्थ के सादृश्य के कारण ही दूसरे शब्द से पहला शब्द बनने की भ्रान्त धारणा को स्थान मिलता है, परन्तु दोनों की 'काय' और 'कार्य' दो पृथक्-शब्द-मूलक पृथक्-पृथक् व्युत्पत्ति उक्त भ्रान्त धारणा को निर्मूल कर देती है और उन दोनों शब्दों में कार्य-कारण-सम्बन्ध का अत्यन्ताभाव स्पष्ट हो जाता है।

मेदिनी-कार के अनुसार "कायस्थ" शब्द एक ओर 'परमात्मा' का

और दूसरी ओर 'मनुष्य-जाति-विशेष' का वाचक है। परन्तु ब्राह्मणादि शुद्ध वर्णों अथवा उनके मिश्रण से बने वर्ण-सङ्करों में "कायस्थ" नाम की कोई पृथग् जाति मनु-याज्ञवल्क्यादि प्राचीन स्मृतियों अथवा पुराणादि ग्रन्थों के "वर्ण-जाति-विवेक" प्रकरणों एवञ्च अमरकोश, कामन्दकीय, हर्षचरित, इत्यादि तक में उल्लिखित नहीं मिलती है। ऐसी अवस्थिति में पुँल्लिङ्ग "कायस्थ" शब्द जिस 'नर-जाति-विशेष' का वाचक है उसे इन्हीं शुद्ध ४ वर्णों में से किसी एक के अन्तर्गत होना चाहिए। क्योंकि मनु० १०।४—"ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्वि-जातयः। चतुर्थ एक-जातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः॥"—ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य—ये तीन वर्ण ऐसे हैं जिनके दो जन्म होते हैं, चौथा वर्ण शूद्र है जिसका एक ही जन्म होता है [अर्थात् शूद्र को मौञ्जी-बन्धन उपनयन और गायत्री-मन्त्र-रूप दूसरा जन्म, जिससे वह वेदाध्ययन का अधिकारी (योग्य पात्र) बन सके, नहीं प्राप्त होता है], परन्तु इन ४ शुद्ध वर्णों के अतिरिक्त कोई पांचवाँ वर्ण नहीं है।—के अनुसार कोई पांचवाँ वर्ण नहीं होता है। वर्ण-बाह्य अन्त्यज का, जो कि समाज से दूर रहता था, यहाँ कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। उन अन्त्यजों को छोड़, शेष अनुलोम-ज अथवा प्रतिलोम-ज वर्णसङ्कर जातियाँ जो पृथक्-पृथक् अपने-अपने अवान्तर नामों से ही प्रसिद्ध हैं और जिनमें अधिकांश शूद्र-धर्मा हैं उक्त ४ वर्णों वाले समाज में ही आ जाती हैं। तब देखना है कि उक्त राजकीय पदधारी अथवा कर्मचारी लोग, जो "कायस्थ" कहलाए—उक्त वर्णों, और उनके मेल से बनी विविध जातियों के मध्य में (जिनकी सूचियों में, जो धर्मशास्त्रों के वर्ण-जाति-प्रकरण में मिलती हैं, "कायस्थ" नाम की कोई जाति नहीं है)—किस वर्ण अथवा जाति में अपना मौलिक स्थान रखते हैं।

यद्यपि पर काल के शूद्र-कमलाकर में 'सूत' की वृत्ति के अन्तर्गत 'कायस्थत्व' और जातिभास्कर में उद्धृत विष्णु रहस्य में ब्राह्मण और क्षत्रिया के विवाह से उत्पन्न मूर्धावसिक्त की वृत्ति के अन्तर्गत 'मन्त्री होना' भी रक्खा गया है तथापि मन्वादि धर्मशास्त्रकारों और

मध्यकाल तक के निबन्धकारों ने मन्त्री इत्यादि का कार्य मुख्यतया ब्राह्मणों और अगत्या शुद्ध द्विजवर्णों तक ही सीमित रक्खा है, किसी वर्णसङ्कर जाति की जीविका में इसका उल्लेख नहीं किया है और न "कायस्थ" नाम की पृथक् कोई जाति ही बताई है । यदि उन जातियों के अन्तर्गत इस ('कायस्थ') नाम की भी जाति होती, तो याज्ञवल्क्यस्मृति के, सप्तम शताब्दी से लेकर १७वीं शताब्दी तक के, टीकाकार "कायस्थ" शब्द के अर्थ में (१) "रागादयः । लेखका इत्यन्ये" (२) "लेखका गणकाश्च" (३) "कराधिकृताः" (४) "राजाधिकृतैर्लेखकैः । चकाराद् गणनाधिकृत-समुच्चयः" इस प्रकार से 'लेखक' 'गणक' (ज्योतिषी) और 'माल विभाग के अधिकारी' न लिखकर 'अमुक अमुक वर्णों के माता-पिता से उत्पन्न अमुक नाम की वर्णसङ्कर जाति' ही लिखते । शुद्ध वर्णों में भी, किसी शूद्र का तो मन्त्री इत्यादि होना सर्वथा वर्जित था ही, क्षत्रिय अथवा वैश्य यदि ब्राह्मणों के अभाव में कहीं ऐसे पदों पर रख भी लिए जा सकते थे तो उनकी सङ्ख्या ऐसी नगण्य होती थी और इतनी अधिक नहीं हो सकती थी कि यातायात की कठिनता वाले उस काल में उन इने-गिने क्षत्रियों अथवा वैश्यों की, आगे चल कर, अपने अपने वर्ण से पृथक् पृथक् स्थानीय जातियाँ, जैसी अब गौड-श्रीवास्तव्यादि नामों की मिल रही हैं, बन सकतीं । इस सम्बन्ध में कुछ प्रबल प्रमाण यहाँ पुरस्कृत किए जा रहे हैं—

शुक्रनीति अध्याय २ श्लोक ६९-७० के अनुसार राजा की १० प्रकृतियाँ—"पुरोधाश्च प्रतिनिधिः प्रधानः सचिवस्तथा । मन्त्री च प्राड्विवाकश्च पण्डितश्च सुमन्त्रकः । अमात्यो दूत इत्येता राज्ञः प्रकृतयो दश ।।" 'पुरोहित प्रतिनिधि प्रधान सचिव मन्त्री प्राड्विवाक पण्डित सुमन्त्र अमात्य और दूत'—ये हैं। और जैसा वहीं श्लोक ४२६-४२७ में बताया गया है कि—"दश प्रोक्ताः पुरोधाद्या ब्राह्मणाः सर्व एव ते । अभावे क्षत्रिया योज्या-स्तदभावे तथोरुजाः । नैव शूद्रास्तु संयोज्या गुणवन्तोऽपि पार्थिवैः ।।" पुरोहित इत्यादि जो १० कहे गए हैं वे सभी ब्राह्मण रक्खे जाने चाहिए, अभाव में क्षत्रिय रखने चाहिए तथा उनके भी

अभाव में वैश्य। परन्तु राजाओं को चाहिए कि शूद्रों को तो गुणवन्त होने पर भी कदापि न रक्खें।' बृहत्पराशर-संहिता अध्याय १२ श्लोक १०-११—"शुचीन् प्राज्ञान् स्वधर्मज्ञान् विप्रान् मुद्राकरान् हितान्। लेखकानपि कायस्थान् लेख्यकृत्य-विचक्षणान्। अमात्यान् मन्त्रिणो दूतान् यथोदित-पुरोहितान्। प्राड्विवाकान् समस्तान् वा हितांश्च रक्षकानपि॥"—के अनुसार 'राजा उन्हीं को मुद्रा (सरकारी मुहर) रखने वाले, लेखक और कायस्थ (गणक Accountants और कर के अधिकारी Revenue Officers) भी जो लेख्यों (documentary evidence) के कृत्य में विचक्षण हों, अमात्य, मन्त्री, दूत, यथोक्त पुरोहित, प्राड्विवाक (ही नहीं), बल्कि स्व-रक्षक (Body-guards) भी नियत करे, जो सबके सब काम-लोभादि से शुचि (शुद्ध) हों, बुद्धिमान् हों, अपने धर्म को समझे हुए हों, विप्र (विद्वान् ब्राह्मण) हों और हितैषी हों।'

मनुस्मृति अध्याय ७ श्लोक ३७-३९, ४३, ५४-६०, इत्यादि—"ब्राह्मणान् पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः। त्रैविद्यवृद्धान् विदुषस्तिष्ठेत् तेषां च शासने ॥३७॥ तेभ्योऽधिगच्छेद् विनयं विनीतात्मापि नित्यशः। विनीतात्मा हि नृपति—र्न विनश्यति कर्हिचत् ॥३९॥ त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्। आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥४३॥ मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान् कुलोद्भवान्। सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥५४॥ तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्। स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥५६॥ सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता। मन्त्रयेत् परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्य-संयुतम् ॥५८॥ अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान्। सम्यगर्थसमाहर्तॄ—नमात्यान् सुपरीक्षितान् ॥६०॥ दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्व-शास्त्र-विशारदम्। इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥६३॥ पुरोहितं च कुर्वीत..........॥७८॥ अध्यक्षान् विविधान् कुर्यात् तत्र तत्र विपश्चितः। तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन् नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥८१॥" और याज्ञवल्क्यस्मृति अध्याय २ श्लोक १-३—"व्यवहारान् नृपः पश्येद् विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह। धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभ-

विवर्जितः ॥१॥ श्रुताध्ययन-सम्पन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः । राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः ॥२॥ अपश्यता कार्यवशाद् व्यवहारान् नृपेण तु । सभ्यैः सह नियोक्तव्यो ब्राह्मणः सर्वधर्म-वित् ॥३॥"—के अनुसार राजा ऋग्यजुः-साम-वेदज्ञ ब्राह्मणों के शासन में चले और वेद-त्रय की विद्या एवं सनातन दण्डनीति को और आन्वीक्षिकी अध्यात्मविद्या को तत्तदभिज्ञ उन ब्राह्मणों से प्राप्त करे, तथा च वार्ता (economics) सम्बन्धी वातों (Moves) को लोक-व्यवहार से प्राप्त करे। मौल (अर्थात् पितृ-पितामह की परम्परा से आए हुए), शास्त्रों के ज्ञाता, शौर्य से और युद्धों के अनुभव से संयुक्त, सत्कुलोत्पन्न और उत्कोच (रिश्वत) इत्यादि विषयक परीक्षोत्तीर्ण ७ अथवा ८ सचिवों को रक्खे। उनके साथ नित्य ही सन्धि-विग्रहादि का चिन्तन करे। [याज्ञ० स्मृ० १।३१२ के अनुसार प्राज्ञ, मौल, स्थिर और शुचि मन्त्रियों को रक्खे और उनके साथ, फिर उनमें सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण-मन्त्री के साथ, और अन्ततः स्वयं, राज-कार्य का विचार करे। मनु० ७।५८, ५९, ६० का अर्थ पहले ही दिया जा चुका है।] दूत ऐसा नियुक्त करे जो सभी शास्त्रों में पारङ्गत हो, इङ्गित (इशारे) आकृति और चेष्टा का अभिप्राय समझता हो, शुचि, दक्ष और कुलीन हो। पुरोहित रक्खे (जो याज्ञ० स्मृ० १।३१३ के अनुसार दैवज्ञ (ज्योतिर्वित्) तथा दण्डनीति इत्यादि में कुशल हो।] और विविध विभागों के अध्यक्षों को रक्खे जो उन विषयों के पूर्ण ज्ञाता हों और राज्य के सब कार्य करने वाले मनुष्यों के कार्यों को देखें। [याज्ञ० स्मृ० १।२२ के अनुसार जो उन विषयों में निष्णात हों, कुशल और शुचि हों, आय-व्यय और कर्मान्तों के कार्यों में सदा उद्यत रहते हों।]

याज्ञवल्क्यस्मृति में व्यवहारों (मुक़दमों) वाले (दूसरे) अध्याय का यों प्रारम्भ हुआ है—राजा क्रोध और लोभ से रहित होकर धर्मशास्त्र के अनुसार विद्वान् ब्राह्मणों के साथ मुकदमे देखे। इन सभासदों का चुनाव राजा करे जो शत्रु और मित्र में समदृष्टि रखते हों और श्रुत तथा अध्ययन से सम्पन्न धर्मज्ञ और सत्यवादी हों। यदि कार्यवश राजा

मुक़दमे न देख पाए तो उसे चाहिए कि इसके लिए उक्त ब्राह्मण सभासदों के सहित सब के धर्मों के ज्ञाता ब्राह्मण को नियुक्त कर दे।

इस प्रसङ्ग में मिताक्षरा टीका कात्यायन से उद्धरण देती है— "स-प्राड्विवाकः सामात्यः स-ब्राह्मण-पुरोहितः। स-सभ्यः प्रेक्षको राजा स्वर्गे तिष्ठति धर्मतः॥ ब्राह्मणो यत्र न स्यात् तु क्षत्रियं तत्र योजयेत्। वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत्॥" यदि राजा, प्राड्विवाक के सहित, अमात्यों के सहित, ब्राह्मण और पुरोहित के सहित, और सभासदों के सहित, धर्मानुसार मुक़दमे देखता है तो स्वर्ग का भागी होता है। [उक्त पदों पर रखने के लिए] जहां ब्राह्मण न हो वहाँ क्षत्रिय को अथवा वैश्य को रक्खे जो धर्मशास्त्र के ज्ञाता हों। शूद्र को यत्नपूर्वक अलग रक्खे (त्यागे)। यही मत शुक्र-नीति ४।१४ का भी है। वालभ कायस्थ सोड्ढल-विरचित "उदयसुन्दरीकथा"—नामक चम्पू (बड़ौदा-संस्करण पृष्ठ ८)—"द्विजन्मानो हि ब्रह्मतेजसो वन्दनीया पूज्या एव मन्त्रि-पुरोहित-पदे स्थापयितुमुचिता भवन्ति।"—इत्यादि के अनुसार भी मन्त्री और पुरोहित ब्राह्मण होने चाहिए।

पूर्वोद्धृत याज्ञ० स्मृ० १।३३६ पर १२वीं शताब्दी की अपरार्क-टीका में "कायस्थ" शब्द का अर्थ "कराधिकृताः" (रेविन्यू आफ़िसरों) और ११वीं शताब्दी की मिताक्षरा-टीका में "गणको" और "लेखकों" किया गया है।

बृहत्पराशर-संहिता से उद्धृत वचन में 'लेखकों' और 'कायस्थों' को पृथक् पृथक् गिनाया गया है। इसी प्रकार राजतरङ्गिणी ८।१३१— "निसर्ग-वञ्चका वेश्याः कायस्थो दिविरो वणिक्॥"—में 'कायस्थ' और 'दिविर' का अलग अलग उल्लेख मिलता है। ऐसे स्थलों में 'लेखक' अथवा 'दिविर' का अर्थ 'क्लर्क' और 'कायस्थों' का अर्थ कराधिकारी अफ़सरों और गणकों (एकाउण्टैण्ट्स) लेना चाहिए।

याज्ञव० स्मृ० १।३३८ में आया हुआ "राष्ट्राधिकृताः" शब्द भी राष्ट्र के विविध अधिकारियों अर्थात् इन्हीं कायस्थों की ओर सङ्केत करता है।

पराशर-माधव (बम्बई संस्कृ०ग्र०) में—शब्दाभिधान-तत्त्वज्ञौ गणना-कुशलौ शुची। नाना-लिपिज्ञौ कर्तव्यौ राज्ञा गणक-लेखकौ ॥—कात्यायन का यह वचन उद्धृत हुआ है कि राजा को 'गणक' (एकाउण्टैण्ट) और 'लेखक' (सीक्रेटरी) दोनों ऐसे रखने चाहिए जो शब्दशास्त्र (व्याकरण) और अभिधान (कोश) दोनों ही के तत्त्व-ज्ञ हों, गणित में कुशल हों, लोभ कामवासनादि-से शुचि (शुद्ध) हों, और विविध लिपियों के ज्ञाता हों ॥ और वहीं व्यास-वचन—"त्रिस्कन्धज्योतिषामिज्ञं स्फुट-प्रत्यय-कारकम्। श्रुताध्ययनसम्पन्नं गणकं योजयेन्नृपः ॥ स्फुटलेखं नियुञ्जीत शाब्दं लाक्षणिकं शुचिम्। स्पष्टाक्षरं जित-क्रोध-मलुब्धं सत्य-वादिनम् ॥" के अनुसार, राजा 'गणक-लेखक' ऐसा रक्खे जो तीनों स्कन्ध वाले ज्योतिष-शास्त्र का ज्ञाता हो, साफ़ हिसाब रखने वाला हो, श्रुत ('गुरुमुख से वेद के श्रवण-जनित ज्ञान) और अध्ययन' (वेद के कण्ठाग्र-पाठ) से सम्पन्न हो, सुन्दर लेख वाला हो, शब्द-शास्त्र (व्याकरण) का पण्डित हो, लक्षणों का विशेषज्ञ (अथवा न्याय-शास्त्र में पारङ्गत) हो. शुचि (कामादि से शुद्ध) हो, स्पष्ट अक्षर लिखता हो, क्रोध को जीत चुका हो, लोभ से रहित हो और सत्य-वादी हो। [तीन स्कन्ध—गणित, जातक, और सिद्धान्त नामक हैं। देखो—जिल्द ३ भाग १, पाददि०, १८९० ई० पृष्ठ २३, अथवा १९११ ई० पृ० ३०] और मत्स्य-पुराण अध्याय १८९—"सर्व-देशाक्षराभिज्ञः सर्व-शास्त्र-विशारदः। लेखकः कथितो राज्ञः सर्वाधिकरणेषु वै ॥"—के अनुसार, हर-एक मोहकमे (विभाग) का राजलेखक (सीक्रेटरी अथवा ऑफ़िस-सुपरिण्टेण्डेण्ट) सभी देशों के अक्षर जानने वाला और सब शास्त्रों में निष्णात होना चाहिए।

'गणक' और 'लेखक' के इन [बृहस्पति-व्यासादि-प्रोक्त] लक्षणों और साहचर्य को दृष्टि में रखते हुए १७वीं शताब्दी के मित्रमिश्र ने अपने निबन्ध-ग्रन्थ "वीरमित्रोदय" (चौखम्बा संस्कृत-ग्रन्थावलि संख्या ३८५) के पृष्ठ ३२ पर लिखा है—"अध्ययनेन वेदाध्ययनम्। श्रुताध्ययनसम्पन्न-मित्युक्तेर्गणको द्विजातिः। तत्साहचर्याल्लेखकोऽपि।" —अध्ययन शब्द का अर्थ वेद का अध्ययन (अधिगम) होता है।

"श्रुत और 'अध्ययन' से सम्पन्न हो—इस वचन से 'गणक' का "द्विजाति" (ब्राह्मण) होना सिद्ध है। 'लेखक' भी उस (गणक) का सहचर होने के कारण ["द्विजाति" ही होता है]।

याज्ञवल्क्यस्मृति पर इन्हीं मित्रमिश्र की "वीर-मित्रोदय" नाम टीका (चौखम्बा-संस्कृत-ग्रन्था० वाराणसी, संख्या ६२) पृष्ठ ३६० में "कायस्थैश्च" (१।३३६) शब्दों की व्याख्या यह की गई है—"राजाधिकृतै-र्लेखकैः कायस्थैः पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत्...चकाराद् गणनाधिकृत-समुच्चयः।"—राजा कायस्थ (अधिकृत) लेखकों के द्वारा पीडित की जाती हुई प्रजाओं की रक्षा करे......'च' (=और) शब्द से गणनाधिकारियों (गणकों) का समुच्चय इष्ट है।

याज्ञवल्क्यस्मृति पर सातवीं शताब्दी की (अर्थात् उपलब्ध और प्रकाशित टीकाओं में प्राचीनतम) टीका "बालक्रीडा" (त्रिवेन्द्रम् संस्कृत-ग्रन्थावलि) में भी "कायस्थ" शब्द का अर्थ, अपने मत से, "शरीर में रहने वाले राग-द्वेषादि," और अन्यों के मत से "लेखक" ही किया गया है। "कायस्था रागादयः। लेखका इत्यन्ये।" अग्निपुराण अध्या० २२३ श्लो० ११-१२—"राजवल्लभ-तस्करैः॥ भक्ष्यमाणाः प्रजा रक्ष्याः कायस्थैश्च विशेषतः॥—में याज्ञवल्क्यस्मृति १।३३६ का ही भाव और विषय प्राप्य है। मनु०७।१२३ "राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः। भृत्याः भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः॥", इसी प्रकार महाभारत शान्तिपर्व में राजधर्मानुशासन पर्व अध्याय ८७ श्लोक १२-१३—जिघांसवः पापकामाः परस्वादायिनः शठाः। रक्षाभ्यधिकृता नाम तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः॥", श्रीमद्भागवत (४।१४।१७—"राजन्नसाध्वमात्येभ्यश्चोरादिभ्यः प्रजा नृपः। रक्षन् यथा बलिं गृह्णन्निह प्रेत्य च मोदते॥"), क्षेमेन्द्र (व्यासदास)-कृत "दशावतार-चरित" के सर्ग ८ (श्रीकृष्णावतार) के पद्य ८२२—"प्रजाकार्ये सक्तिः श्रवणमभिभूतार्तवचसां स्पृहा काम-क्रोध-प्रमद-मद-मान-व्युपरमे। क्षितेः कायस्थेभ्यः कृपणपरिरक्षा प्रतिपदं, गुणासङ्गः श्रेयानयमुदयलक्ष्म्याः क्षितिभृताम्॥" में भीष्म का युधिष्ठिर को उपदेश, और कहलण-कृत राजतरङ्गिणी

(८।८६)—"जिघांसवः पापकामाः परस्वादायिनः शठाः ।। रक्षांस्यधिकृता नाम तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः।।", इन सब में अधिकारियों के ही दोष का विविध नामों से वर्णन है, न कि किसी जातिविशेष के दोष का वर्णन है।

उक्त सभी प्रमाणों से अति-स्पष्ट है कि "कायस्थ" कोई पृथक् जाति नहीं, वल्कि यह शब्द, 'कर के अधिकारियों', 'गणकों', 'लेखकों' इत्यादि का ही बोधक रहा है और इन लोगों की जाति "द्विजाति" (ब्राह्मण) ही सिद्ध होती है।

वररुचि-विरचित पत्रकौमुदी के "वाचस्पत्य-बृहदभिधान" और "शब्द-कल्पद्रुम" में उपलब्ध उद्धरण—"ब्राह्मणो मन्त्रणाभिज्ञो राजनीति-विशारदः । नाना-लिपिज्ञो मेधावी नाना-भाषा-समन्वितः ।।" 'जो ब्राह्मण-हो, मन्त्रण-कार्य-कुशल हो, राजनीति-विशारद हो, नाना लिपियों का ज्ञाता हो, मेधावी हो और नाना भाषाओं [के ज्ञान] से समन्वित हो—इस 'राजलेखक' के लक्षण में तो साक्षात् ही राज-लेखक 'ब्राह्मण' कहा गया है। इसी प्रकार " ह्म-वैवर्त-महापुराण" ब्रह्मखण्ड अध्याय १० श्लोक १३२—"विप्रश्च वेतनाज्ज्योति-र्गणनाच्च निरन्तरम् । वेद-धर्म-परित्यक्तो बभूव गणको भुवि ।।" अर्थात् 'और ब्राह्मण (विप्र) वेतन-ग्रहण करने से तथा निरन्तर गणित-ज्योतिष की गणना करते रहने से [यज्ञादि] वेद-धर्म-रहित हुआ पृथिवी में "गणक" हो गया।'—से भी 'गणक' का विप्र (ब्राह्मण) होना प्रमाणित है।

राजतरङ्गिणी ६।१३—("कार्तान्तिको भिषक् सभ्यो गुरुर्मन्त्री पुरोहितः । दूतः स्थेयो लेखको वा न तदाभूदपण्डितः ।।")—तब, अर्थात् महाराज यशस्कर के राज्यकाल (९३९-९४८ ई०) में, ज्योतिषी, वैद्य, सभासद्, गुरु, मन्त्री, पुरोहित, दूत, और स्थेय (जज), एवं लेखक, कोई अ-पण्डित नहीं था—से भी इन सभी पदधारियों का जाति से ब्राह्मण होना ही प्रतीत होता है।

उक्त सभी प्रमाणों का एकमात्र प्रमेय केवल यही सम्पिण्डित निगमन होता है कि हिन्दू राज्यकाल में रक्तशुद्धता की रक्षा के लिए विभिन्न स्थानीय जातियों में बँटा हुआ "कायस्थ" इस सामान्य नाम से प्रसिद्ध

सरकारी लिखा-पढ़ी की वृत्ति वाला जन-समुदाय (नर-जाति-विशेष) मूलतः नैसर्गिक पठन-पाठन-निरत ब्राह्मण-वर्ण में से ही विनिर्गत हुआ था।

शङ्का—

यदि कोई यह तर्क करे कि "कायस्थ" शब्द जिस [मन्त्री इत्यादि के] कर्म (वृत्ति-विशेष, पेशे) का सूचक है वह वृत्ति (जीविका) कहीं-कहीं अनुलोमज अथवा प्रतिलोमज वर्ण-सङ्कर जाति-विशेष की भी बताई गई है। यथा—ब्राह्मण पिता और क्षत्रिया माता के विवाह से जो "मूर्धावसिक्त" नाम अनुलोमज सङ्कर उत्पन्न होता है और प्रतिलोम क्रम से भी क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी माता की सन्तति जो "सूत" नाम से प्रसिद्ध है, इन दोनों की वृत्ति कहीं-कहीं 'मन्त्री इत्यादि होना' भी बताई गई है। और जन्म से ब्राह्मण-वर्ण पिता और वैश्यवर्ण की माता से उत्पन्न 'अम्बष्ठ' तथा वैश्य पिता और शूद्र-वर्णा माता से उत्पन्न "करण", जो दोनों ही अनुलोम-ज वर्णसङ्कर जातियाँ हैं, इन्हीं नामों से कायस्थों के दो उपभेद-विशेषों के रूप में प्रसिद्ध हैं। तब तो कायस्थों का वर्ण-सङ्कर जातियों में ही परिगणन होना चाहिए, न कि विशुद्ध ब्राह्मण वर्ण में।

याज्ञवल्क्य-स्मृति (१।९१-९६)—विप्रान्मूर्धावसिक्तो हि क्षत्रियायां, विशः स्त्रियाम्। अम्बष्ठः शूद्र्यां निषादो जातः पारशवोऽपि वा॥ ···वैश्यात्तु करणः शूद्र्यां, विन्नास्वेष विधिः स्मृतः। ब्राह्मण्यां क्षत्रियात् सूतो, वैश्याद् वैदेहकस्तथा॥ असत्-सन्तस्तु विज्ञेयाः प्रतिलोमानुलोमजाः। जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः पञ्चमे सप्तमेऽपि वा॥ व्यत्यये कर्मणां साम्यं पूर्व-वच्चाधरोत्तरम्।—के अनुसार, ब्राह्मण से क्षत्रिया में 'मूर्धावसिक्त' और वैश्यवर्ण की स्त्री में 'अम्बष्ठ,' तथा शूद्री में 'निषाद' उपनाम 'पारशव' उत्पन्न होता है।···वैश्य से शूद्री में 'करण' जन्मता है।—यह विधान विवाहिता स्त्रियों के विषय में है। ब्राह्मणी में क्षत्रिय से 'सूत' और वैश्य से 'वैदेह' प्रतिलोमज उत्पन्न होता है।···प्रतिलोमज 'असत्' और अनुलोमज 'सत्' समझने चाहिए। [पारशव कन्या ब्राह्मण से विवाहित होने पर कन्या को जन्म दे, वह भी ब्राह्मण से उसी प्रकार विवाहित

होकर कन्या जन्मे, तो इसी क्रम से सातवीं पीढ़ी में उत्पन्न सन्तति शुद्ध ब्राह्मण होगी। ऐसे ही क्षत्रिय से क्रमशः विवाहित होते रहने पर पाँचवी पीढ़ी की सन्तति शुद्ध क्षत्रिय होगी—इस नियम से] पाँचवी अथवा सातवीं पीढ़ी में जाति उत्कृष्ट (उन्नत) हो जाती है। और जन्म के ही समान कर्म (वृत्ति, जीविका) से भी पाँचवी-सातवीं पीढ़ी में वर्ण परिवर्तित हो जाता है। अर्थात् जाति-सङ्कर और कर्म-सङ्कर इन दोनों प्रकारों के वर्ण-सङ्कर की ऊँचे और नीचे की ओर गति होती है।

इस विषय में मनु० अध्याय १० के श्लोक ८, ११, ६४-६५, ४१-४२, २४ इत्यादि भी द्रष्टव्य हैं।

उक्त 'मूर्धावसिक्त' पर पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने अपने "जाति-भास्कर" में "विष्णु-रहस्य" से यह उद्धरण दिया है—"विप्रधर्मा भवेत् सोऽपि मूर्धावसिक्तकोऽधिकः। प्रतिग्रहादौ तस्मात् स्यादधिकारी स इत्यपि ॥ मन्त्री सभासत् सचिवः सेनानीः कोष-रक्षकः। योद्धा विप्रादिभोज्यान्नोऽखिलविद्याविशारदः ॥ उपदेष्टोपवेदानां प्रोक्तो मूर्धावसिक्तकः। प्रतिग्रहादौ नान्येषामधिकारस्त्रिके क्वचित् ॥ विप्र-क्षत्रिय-मध्यस्थाः कथञ्चिदधिकारिणः ॥"—वह 'मूर्धावसिक्त' भी विप्र-धर्मा और इसलिए प्रतिग्रह, याजन, अध्यापन वृत्तिकर्म-योग्य होता है। मूर्धावसिक्त—मन्त्री, सभासद्, सचिव, सेनानायक, कोष-रक्षक, योद्धा, जिसका अन्न-भोजन ब्राह्मणादि कर सकें, सर्व-विद्याओं में विशारद, और उपवेदों का उपदेशक माना गया है। तीन (क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र) वर्णों में कोई प्रतिग्रहादि कर्म के अधि-कारी (योग्य) नहीं हैं। ब्राह्मण (याजक) और क्षत्रिय के मध्य में स्थित लोग किसी प्रकार से अधिकृत हैं।

मनु० १०।४१ के अनुसार ब्राह्मण से विवाहित ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या में उत्पन्न; क्षत्रिय से विवाहित क्षत्रिया, वैश्या में उत्पन्न; और वैश्य से विवाहित वैश्या में उत्पन्न—६ पुत्र—अर्थात् ब्राह्मण, मूर्धावसिक्त, अम्बष्ठ, क्षत्रिय, माहिष्य और वैश्य—द्विज-धर्मी (अर्थात् उपनयन और वेदाध्ययन के योग्य) होते हैं। और सभी अपध्वंसज (प्रतिलोमज सन्तान), जो नीचे वर्ण वाले पिता और ऊँचे वर्ण की माता से उत्पन्न

होते है, शूद्रों के समान धर्म वाले अर्थात् उपनयन और वेदाध्ययन में अनधिकारी माने गए हैं। तथापि महाभारतान्तर्गत कीचक-प्रकरण के अनुसार प्रतिलोमजों में एकमात्र "सूत", जिसकी जीविका 'अश्व-सारथ्य' इत्यादि कही गई है, 'द्विज' माना गया है। श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध अध्याय ७८ में व्यास-शिष्य प्रतिलोमज सूत रोमहर्षण का नैमिषारण्य में बलराम द्वारा कुशाग्र से वध किए जाने पर मुनियों ने उसे 'ब्रह्म-वध' बताया क्योंकि उन्हीं ने सूतजी को ब्रह्मासन दिया था और बलराम से कहा कि इस ब्रह्म-हत्या से छूटने के लिए बल्वलवध और तीर्थाटन करो और फिर बलराम ने वैसा ही किया। कीचक इत्यादि सूतों की कन्याएँ क्षत्रियों में विवाहित होती थीं। सूत, मागध और वन्दीजन राजाओं के आश्रित होते थे। इन सूतों के वर्तमान वंशधर भाट (भट्ट अथवा ब्रह्म-भट्ट) लोग आज भी विद्यमान हैं।

कमलाकर भट्ट ने इन सूतों की जीविका—"सूतानां मन्त्रि-कायस्थत्वम्" इत्यादि अपने "शूद्रकमलाकर" में लिखकर, "कायस्थत्व" की व्याख्या 'लेखक का कार्य' करते हुए, स्पष्ट किया है कि, मन्त्री और लेखक, अर्थात् कायस्थ, का कार्य भी इन की वृत्ति है।

अतः शङ्का-रूप यह 'अनुमान' क्यों न किया जाए कि उक्त नामों वाले सभी वर्ण-सङ्करों का समावेश वर्तमान कायस्थों में हुआ है ?

समाधान

इस शङ्का का समाधान यह होगा कि किसी भी धर्मशास्त्र अथवा स्मृति-ग्रन्थ में कहीं भी "कायस्थ" नाम की कोई भी अनुलोम-ज अथवा प्रतिलोम-ज वर्णसङ्कर जाति उल्लिखित नहीं हुई है। यदि कायस्थों का कोई भी भेद अथवा उपभेद किन्हीं वर्णों के सङ्कर से बना होता, तो हमारे धर्मग्रन्थों में कहीं न कहीं तो उस का ऐसा उल्लेख होता। वर्तमान निबन्ध में दिए गए आगे-पीछे वाले सभी प्रमाण और उदाहरण सर्वत्र मूलतः विशुद्ध ब्राह्मण-वर्ण के ही लोगों के "कायस्थ"-नामक जन-समुदाय में परिणत होने के निदर्शक हैं। धर्मशास्त्रों (स्मृतियों और निबन्ध-ग्रन्थों) के शब्द-प्रमाण और राजतरङ्गिणी, प्राचीनलेखादिकों में

आए हुए वैयक्तिक उदाहरणों के तात्कालिक प्रत्यक्ष-रूप ऐतिहासिक प्रमाणों से "निर्णीत विषय" पर पुनः अनुमान लागू किए जाने के लिए कोई गुन्जायश ही नहीं रह जाती है। जैसा कि न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन कह गए हैं—" न प्रत्यक्षे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते। अपि तु सन्दिग्धे......"

कायस्थों की जितनी भी जातियाँ और उपभेद हैं, उनमें अपनी रक्त-शुद्धता के ऐसे कड़े नियम सदा से चले आ रहे हैं कि उनमें किसी बाह्य (ब्राह्मणेतर-कायस्थ) व्यक्ति का प्रवेश पाना सर्वथा असम्भव था। इन मौलिक ब्राह्मण-वर्ण-ज कायस्थों की वृत्ति का अवलम्बन यदि अन्य जातियों के लोग भी करते, तो भी वे सदा स्व-जाति-भुक्त ही रहते थे। अतः सूतों और मूर्धावसिक्तों में से भी जिन लोगों ने इस वृत्ति का अवलम्बन किया वे भट्ट इत्यादि सूतों और प्रतिग्रह-धर्मी ब्राह्मणों में से पृथक् होकर किसी अन्य जाति के अङ्ग नहीं हो सके। यही नहीं, बल्कि इस कायस्थवृत्ति को अपनाने वाले विभिन्न समयों और प्रान्तों में कितने ही ब्रह्म-क्षत्रिय (खत्री), 'उकेशवंशीय कायस्थ' (कायस्थ-पद-धारी व्यक्ति-विशेष जो उस उकेश अथवा उपकेश-वंश, ओसवाल जाति, का था जो आगे चल कर क्षत्रिय से जैन वैश्य बन गई), अग्रवाल, ढूसर-भार्गव, इत्यादि भी होते आए हैं, जिनमें से कोई "कायस्थ" भी लिखे गए, परन्तु वे कायस्थ-पेशे के नाते "कायस्थ"-नामधारी होकर भी अपनी-अपनी जातियों में ही रहे। और न तो उनसे कायस्थों की कोई नई उपजातियाँ ही बनीं, और न वे ही किसी पहले से बनी कायस्थ-उपजाति में प्रविष्ट हो सके। अतः उक्त शङ्का के लिए अवकाश ही नहीं है।

अब रहे "अम्बष्ठ" और 'करण" नामक अनुलोमज वर्णसङ्कर, जो क्रमशः ब्राह्मण-वैश्या और वैश्य-शूद्रा से उत्पन्न हैं। इनकी वृत्तियों का तो मन्त्री इत्यादि राज्य-कार्य रूप कायस्थ-वृत्ति से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। मनु० (१०।४७) में अम्बष्ठों की जीविका "चिकित्सनम्" (वैद्य वाली) बताई गई है। यह प्राधान्यतः जाति-रूप से वङ्गदेश की वैद्य जाति के लोगों में तो मिलती है, जो अपने आप को 'अम्बष्ठ' और अर्ध-

ब्राह्मण भी कहते आ रहे हैं, परन्तु विहार प्रदेश इत्यादि में 'अमिष्ठ' (शुद्ध—आम्वष्ठ अथवा आम्वाष्ठ्य) नाम से प्रसिद्ध कायस्थों की जीविका तो सदा से प्राधान्यतः सरकारी नौकरी की ही रहती आई है। और इन दोनों प्रान्तों (वङ्ग और विहार) की उक्त दोनों विभिन्न जीविका वाली जातियों में कभी यौन-सम्बन्ध रहे हों, इसके पक्ष में भी कहीं कोई प्रमाण नहीं है। बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र" (अ० ३, सू० १०३) में "अम्वष्ठ" एक देश-विशेष का नाम मिलता है और "ऐतरेय-ब्राह्मण" (८।२१) में "आम्वाष्ठ्य" राजा का उल्लेख भी इसी वात का द्योतक है कि कायस्थों का यह वर्ग-नाम भी उसी प्रकार देश-विशेष के 'स्थानीय' नाम से पड़ा है जिस प्रकार से गौड, माथुर, इत्यादि वर्ग-नाम पड़े हैं।

"करण" के सम्वन्ध में प्रथम विचारणीय विषय यह है कि जहाँ "अमरकोश" के "शूद्रवर्ग" श्लोक १-२—"सङ्कीर्णा अम्वष्ठ-करणादयः ॥ शूद्रा-विशोस्तु करणोऽम्वष्ठो वैश्या-द्विजन्मनोः"—में 'करण' शूद्रा और वैश्य का पुत्र बताया गया है, उस स्थल की, तथा "नानार्थ-वर्ग" के श्लोक ५४ में आए हुए नपुंसकलिङ्ग 'करण' शब्द की, रामाश्रमी व्याख्या में उद्धृत—वचन से अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि 'करण' नामक 'कायस्थ-भेद', 'करण' नाम वाली वर्णसङ्कर-जाति से सर्वथा भिन्न है, अर्थात् इन दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं है। 'करण' शब्द के दो अत्यन्त भिन्न अर्थों वाली यह वात वहुत कुछ "वैदेहक" की जैसी है। अमरकोश "शूद्र-वर्ग" श्लोक ३—"ब्राह्मण्यां क्षत्रियात् सूत-स्तस्यां वैदेहको विशः ॥" —में "सूत" और "वैदेहक" प्रतिलोम-ज सङ्कर जातियों की उत्पत्ति, ब्राह्मणी स्त्री में, क्रमशः क्षत्रिय और वैश्य पुरुष से बतलाई गई है। परन्तु यही "वैदेहक" शब्द "वैश्य-वर्ग" के श्लोक ७८—"वैदेहकः सार्थवाहो नैगमो वणिजो वणिक्। पण्याजीवो ह्यापणिकः क्रय-विक्रयिकश्च सः ॥" —में बनिए के ८ नामों में से एक नाम के रूप में भी मिलता है, जहाँ यह केवल वृत्ति (पेशे) का सङ्केतित अर्थ देता है, और न तो वैश्य वर्ण का वाचक है, न वैश्य-ब्राह्मणी से उत्पन्न वर्णसङ्कर सन्तान का।' ठीक ऐसे ही "करण-कायस्थ" शब्द, 'करण' (दफ्तर office) के कायस्थ

(लेखक अथवा अफ़सर) का बाचक है, जो शुद्ध पेशे (वृत्ति) का ही सूचक है, न कि किसी वर्ण का अथवा किसी वर्णसङ्कर जाति का सूचक। अब यह भी देखना चाहिए कि इस नाम से प्रसिद्ध कायस्थ कहाँ कहाँ बसते हैं और क्या उनमें कोई वर्णसङ्कर 'करण' भी हो सकते हैं।

मैथिल कायस्थ 'करण' नहीं, "कर्ण कायस्थ"-नाम से प्रसिद्ध चले आते हैं और मिथिला के राजा वीरसिंहदेवादि के पूर्वजों के साथ "कर्णाट" देश से मिथिला आने के कारण "कर्ण-कायस्थ" कहलाए। यह भी ठीक उसी तरह का स्थान-वाचक उपभेद है जैसे माथुर, गौड, आम्बष्ठ, इत्यादि तत्तत्स्थानीय कायस्थोपभेद हैं। यहाँ जब 'करण' शब्द ही नहीं है तब वर्ण-सङ्कर ('करण') होने का सन्देह भी क्योंकर हो सकता है ?

इनके अतिरिक्त विहार और उड़ीसा के "करण-कायस्थ" भी उसी प्रकार 'करणों' (दफ्तरों) के 'कायस्थ' होने के कारण, और "ग्राम-कायस्थों" से भिन्न होने के कारण, इस विशिष्ट नाम से प्रसिद्ध हुए थे जैसे आन्ध्र और तमिलनाडु (मद्रास) के 'करणिक' (ब्राह्मण-करणिक) अर्थात् ब्रह्म-कायस्थ पीछे से 'करणमु' अथवा 'करणम्' नाम से परिचित हुए है। इन सभी कायस्थों का 'करण' शब्द दफ्तर (ऑफ़िस) का ही वाचक है और इनमें से किसी के भी विषय में प्रयुक्त 'करण' नाम वैश्य-शूद्रा से उत्पन्न वर्ण-सङ्कर से कोई सम्बन्ध नहीं रखता है, जैसा प्राचीन ताम्रशासन-शिलालेखादिकों के 'करण-कर्मादि उदाहरणों से सिद्ध है।

ऐसी स्थिति में "आम्बष्ठ" और "करण" कायस्थों के उपभेद, समान-नामों वाले अनुलोम-ज वर्णसङ्करों से, सर्वथा भिन्न, सिद्ध होते हैं। इस मीमांसा से पूर्वोत्थापित कुतर्क में कोई सार ही नहीं रह जाता है।

और इन सभी पूर्व-पक्षों से विभिन्न, वस्तु-स्थिति के सर्वथा विपरीत, और अत्यन्त विचित्र, वम्बई वाले भविष्यपुराण के, अमृतसर की केवल एक आधुनिक पोथी से मुद्रित, प्रतिसर्गपर्व (खण्ड ४, अ० २३ श्लो० ९९-१०७) में जो ये शब्द मिलते हैं—"एकवर्णे च चत्वारो वर्णाः कायस्थ एव सः। भूत-प्रेत-पिशाचाद्याः कायस्थैस्तर्पिताः सदा ॥"—अर्थात् [जिस] एक वर्ण में चारों वर्ण हैं वह कायस्थ ही है। कायस्थ सदा भूत-प्रेत-पिशाचादिकों

को तृप्त करते रहे हैं।" इन (शब्दों) से यह भ्रम हो सकता है कि 'कायस्थ' शुद्ध ब्राह्मण वर्ण से बनी स्थानीय जातियों का सामान्य नाम नहीं, बल्कि चारों वर्णों के मेल से बने एक वर्ण-विशेष का नाम है।

परन्तु प्रथम तो पूर्वोद्धृत मनु० १०।४ के सर्वथा विरुद्ध, चार वर्णों के अतिरिक्त, 'कायस्थ" नाम किसी पांचवें वर्ण की शास्त्र या लोक में कोई सत्ता ही नहीं है। दूसरे, कायस्थों के सुशिक्षित वर्गों में, असभ्य अशिक्षित जङ्गली लोगों की-जैसी, भूत-प्रेत-पिशाचादिकों की पूजा, कहीं भी कभी, न प्रचलित थी और न अब देखी-सुनी जाती है। जैसे ये दो बातें निर्मूल हैं, वैसे ही इनमें चारों वर्णों के सम्मिश्रण की बात भी सर्वथा निराधार और कल्पित है, जो ईर्ष्या-द्वेषादि-प्रेरित किसी दुर्जन द्वारा प्रक्षिप्त वचन से अधिक कोई मूल्य नहीं रखती है।

अतः ऐसे विद्वेष-जनित सर्वथा झूठे असद्वचन से "कायस्थों" के मूलतः शुद्ध ब्राह्मण-रक्त और शास्त्रानुमोदित द्विजात्युचित वृत्ति पर कोई आँच नहीं आ सकती है।

केतु-ग्रह से सम्बद्ध ब्रह्मा और चित्रगुप्त का जो अधिदेवता और प्रत्यधिदेवता का सम्बन्ध है वह आकस्मिक नहीं है और न ही चित्रगुप्त को ब्रह्मा का ध्यान-ज पुत्र बताने वाली विस्तृत काल्पनिक आधुनिक कथाएँ भी सर्वथा निर्मूल हैं। ब्रह्माजी यज्ञविधि-परक वेद के, और उसके विशेषज्ञ तथा प्रचारक वैदिक (याजक) ब्राह्मणों के, प्रतीक (symbol) हैं। और इसी प्रकार चित्रगुप्त जी राज्य के कार्यों में अपेक्षित लेखन-विद्या-सहित मन्त्र-शक्ति, दण्डनीति, धर्मशास्त्र, और इन के विशेषज्ञ तथा प्रचारक लौकिक-ब्राह्मणों (कायस्थों) के प्रतीक हैं। मनु० ७।४३, वत्सराज-सुत हरिदास-विरचित "लेखक-मुक्तामणि" और "शब्द-कल्पद्रुम में 'कायस्थ'-शब्द की व्याख्या में उद्धृत वचनानुसार दण्डनीति और धर्मशास्त्र के आदेष्टा, स्मृति-पाठक, श्रुति-लेखिता सकल-पुराण-शास्त्र-वेदिता, सर्व-शास्त्रों में सुधी, काव्यालङ्कार-बोधक (-शिक्षक), इत्यादि विशेषणों से विशिष्ट,—आश्वलायन-श्रौतसूत्र (उत्तरार्ध ४।७) में उल्लिखित "श्रोत्रिया अप्रतिग्राहकाः" (पूना-संस्करण, पृष्ठ ४१४-४१५), एवं

कामन्दकीय-नीतिसार (१।२)—"वंशे विशालवंश्याना-मृषीणामिव भूयसाम् । अप्रतिग्राहकाणां यो बभूव भुवि विश्रुतः ॥" 'विशाल-वंश्यानामृषीणामिवाप्रतिग्राहकाणां वंशे यो बभूव……भूयसां= प्रभूततराणाम् । तथाहि — कुलशतम् अप्रतिग्राहकाणाम् — इति लोकप्रवादः' (—जयमङ्गला-टीका), और "बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र" (अ० ६। सू० ५) में प्रपञ्चित अमात्य-सम्पत् के अन्तर्गत अ-प्रतिग्राहक तथा मन्त्री इत्यादि राजकीय पदधारी लौकिक "बुद्धि-जीवी" ब्राह्मणों का वर्ग सदा से ही, उक्त याजक-प्रतिग्राहक ब्राह्मणों से, पृथक् रहता आया है। ये ब्राह्मण ही पश्चात्काल में चित्रगुप्त के विद्या-वंशज हुए और 'कायस्थ' कहलाए। और मेदिनी-कोश में [ब्राह्मण-वर्ण की] यही शाखा 'कायस्थ' शब्द के दूसरे अर्थ "नर-जाति-विशेष" के रूप में सङ्केतित हुई है। एवं ब्रह्माजी और चित्रगुप्तजी का उक्त सम्बन्ध और पिता-पुत्रादि वाली कथाओं की विस्तृत कल्पनाएँ भी इसी तथ्य की निदर्शक हैं। यहाँ तक कि चित्रगुप्त-कायस्थोत्पत्ति-कथाओं में चित्रगुप्त जी जिन 'लेखकाक्षरों के दायक' माने गए हैं, बृहस्पति-स्मृति में उन अक्षरों की सृष्टि भी साक्षात् ब्रह्माजी से बताई गई है। इसी से प्राचीन लिपि "ब्राह्मी" कहलाई। इसका सीधा अर्थ यही होता है कि बुद्धिजीवी मन्त्री इत्यादि 'अमात्य-सम्पत्' वाले वर्ग (जन-समुदाय) का निकास-स्थान ब्राह्मण-वर्ण ही है । इसी बात को लक्ष्य में रखते हुए ११वीं शताब्दी के एक शिलालेख में [कायस्थों की] "यह द्विजाति, 'उत्साह' और 'प्रभाव' इन दो शक्तियों से सम्पन्न राजाओं की तीसरी अखिल मन्त्र-शक्ति बढ़ाने के लिये, 'अमात्य-धर्म' का हेतु बनी" इस अर्थ का यह श्लोक मन्त्री ने अपने कायस्थ-वंश-वर्णन की भूमिका रूप से दिया है—"उत्साहशक्ति-प्रभुशक्ति-भाजां प्रवर्धनायाखिलमन्त्रशक्तेः। द्विजातिरेषा पृथिवीपतीनाममात्यधर्मस्य बभूव हेतुः ॥"

अ-प्रतिग्राहक-वंशीय ब्राह्मणों की उपमा, उक्त कामन्दकीय वचन (१।२) में ऋषियों से दी गई है। इन्हीं में चाणक्य (कौटल्य)-जैसे कूट-नीतिज्ञ की उत्पत्ति बताई गई है। उपमा प्रायः ऊँचे से दी जाती है।

अतः ऋत्विग्यों की प्रतिष्ठा सर्वोपरि माननीय है। उनके अनन्तर याजक (वैदिक) ब्राह्मण आते हैं, और इनसे भी उतर कर आते हैं लौकिक अप्रतिग्राहक अमात्य-सम्पदीय ब्राह्मण, जो परलोक से नहीं किन्तु इस लोक के धर्माधर्म-विवेक से सम्बन्ध रखते हैं। ये बुद्धिजीवी ब्राह्मण युद्धजीवियों (क्षत्रियों) से अधिक प्रतिष्ठित होते हुए भी वैदिक ब्राह्मणों की अपेक्षा से क्षत्रिय समान समझे जाते थे। अतएव महाभारत शान्ति-पर्व के राज-धर्मानुशासन-पर्व अध्याय ७६ श्लोक ८—"ऋत्विक् पुरोहितो मन्त्री दूतो वार्तानुकर्षकः। एते क्षत्रसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥"—में राजदर्बार से सम्बद्ध, न केवल राज-मन्त्री, दूत, इत्यादि ब्राह्मण, प्रत्युत ऋत्विज्, पुरोहित, इत्यादि ब्राह्मण भी क्षत्रियों के समान बतलाए गए हैं। और इसी लिए शिव-महापुराण की उमासंहिता के अध्याय २१ श्लोक १५—"तेनाग्नि-मन्त्र-पूतात्मा क्षत्रियो ब्राह्मणो भवेत्। विधितो ब्राह्मणो भूत्वा याजकस्तु प्रजायते ॥"—में 'क्षत्रिय' से ऊपर 'ब्राह्मण' और उससे भी ऊँचा 'याजक' माना गया है। इसी दृष्टि से यज्ञादि पारलौकिक सम्बन्ध से ही ब्राह्मण-सम्बन्धी शब्दों का संग्रह अमरकोश के "ब्रह्मवर्ग" के अन्तर्गत प्रधानतया किया गया है। और शेष लौकिक ब्राह्मणों का—अर्थात् मन्त्री, धी (बुद्धि)-सचिव, अमात्य, कर्मसचिवों, महामात्रों, पुरोहित, प्राड्-विवाक, प्रतीहार, अध्यक्षों (अधिकारियों), गणक, लेखक, और दूत, इन का—वर्णन "क्षत्रवर्ग" में मिलता है। परन्तु राजा (क्षत्रिय) के आश्रित होते हुए भी, अर्थात् लौकिक वृत्ति के कारण, ये सभी ब्राह्मण ब्राह्मणत्व से हीन नहीं हो जाते हैं। हाँ, याजक (वैदिक) ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा ये सभी अवश्य मानते आते हैं, जिसके उदाहरण प्राचीन लेखों इत्यादि वाङ्मय में बहुशः मिलते हैं। यथा, मिराशी-सम्पादित का० इ० इ० जिल्द ४—[११६३ ई०] (पृ० ३५३ पंक्ति २३) "वेदाभ्यासरतः सदा 'सुविदुषां मूर्ध्नि प्रवद्धाञ्जलिर्विप्रः' श्रीपुरुषोत्तमः..." [११४५ ई०] पृष्ठ ४५५, पङ्क्ति १७—"महामाहेश्वर-परमवैष्णव-महापण्डित-ठक्कुर श्रीजसोधर-पुत्रेण 'द्विज-देव-गुरुशुश्रूषाभिरतेन'...ठक्कुरश्री जसानन्देन कृता प्रशस्तिः।"

मेदिनी-कोश-गत 'नर-जाति-विशेष' पद में 'जाति' शब्द से "आकृति-ग्रहणा जातिः" अथवा "अनेक-व्यक्त्यनुगत-सामान्य-रूपा जातिः" का ही पारिभाषिक अर्थ लेना सङ्गत होगा। और जैसा "कायस्थ" शब्द की "काय"-उपपद-सम्बद्ध पाँचवीं व्युत्पत्ति से व्यक्त होता है, यह समान-व्यवसायात्मिका महाजाति अथवा इसके अन्तर्गत चित्रगुप्त-वंशीय, वङ्गीय, महाराष्ट्रीय, इत्यादि अवान्तर भेद, तथा उनके भी उपभेद-रूप सूर्य-द्विज, श्रीवास्तव्य, नैगम, गौड, माथुर, भट्ट-नागरादि, अथवा उत्तर-राढीय, दक्षिण-राढीय, बारेन्द्र, बङ्गज, इत्यादि कायस्थों की विविध जातियाँ "द्विजाति" अर्थात् ब्राह्मण-वर्ण में से ही उक्त वृत्ति-विशेष के अवलम्बन से बनी हैं। दिग्दर्शनरूप से कुछ प्रमाण-कदम्ब यहाँ दे देना पर्याप्त और वाञ्छनीय होगा।—

कायस्थों के ब्राह्मण-वर्णान्तर्गत होने के कुछ प्रकीर्णप्रमाण

(१) रीवां (मध्यप्रदेश) के पुराने महल के गार्ड-हॉल (रक्षक-गृह) में पड़ा हुआ, १९३६ ई० में डा०एन०पी० चक्रवर्ती (भारत केगवर्नमेण्ट एपिग्राफ़िस्ट) को उपलब्ध हुआ, तदनन्तर प्रोफ़ेसर वासुदेव विष्णु मिराशी (पश्चात् महामहोपाध्याय, डॉ० मिराशी) नागपुर (मध्यप्रदेश) द्वारा सम्पादित और अङ्रेजी में अनूदित, पहले पहल एपिग्राफ़िया इण्डिका जिल्द २४ पृष्ठ १०१–११५ में, और लम्बे काल के पश्चात् मिराशी जी द्वारा ज्यों-का-त्यों पूर्वसम्पादित रूप में ही) अपने कार्पस् इन्स्क्रिप्शनस् इण्डिकेरम् (जिल्द ४) लेखसङ्ख्या ५१ में उद्धृत, त्रिपुर के कलचुरि-महाराज कर्ण के कायस्थ-वंशीय मन्त्री के [कलचुरि] संवत् ८०० (१०४८-१०४९ ई०) का यह शिलालेख है। इस के पूर्वार्ध में उस मन्त्री ने महाराज के पूर्वजों और कार्यों का विस्तृत वर्णन, और उत्तरार्ध में अपने वंश की उत्पत्ति, पूर्वजों, और अपने बनवाए शिव-मन्दिर-मठ, का विशद वर्णन तथा इस स्व-रचित, ५९ श्लोकों के काव्यरूप, महाप्रशस्ति का उल्लेख किया है। इस शिलालेख की (उक्त जिल्द ४ पृ० २७१) पङ्क्ति १९ का अन्त्य-भाग रूप श्लोक ३४, उक्त कायस्थ-वंश-विशेष के परिचय की भूमिका यों उपस्थित करता है—

"उत्साहशक्ति-प्रभुशक्ति-भाजां प्रवर्धनायाखिल-मन्त्रशक्तेः ।
द्विजातिरेषा पृथिवीपतीनाममात्य-धर्मस्य बभूव हेतुः ॥"

अर्थात् [राजाओं की ३ शक्तियों में से] उत्साह और प्रभाव की २ शक्तियों से जो भूमिपति [स्वतः ही] सम्पन्न होते हैं, उनकी समग्र [तीसरी] मन्त्र-शक्ति बढ़ाने के लिए यह (वक्ष्यमाण, कायस्थ-वंश रूप) द्विजाति अमात्य-धर्म का [जनक] हेतु हुई । भावार्थ यह है कि राजाओं की जो तीसरी शक्ति अमात्यों (मन्त्रियों) के साथ मन्त्रणा करने से बढ़ती है उसके [उत्पादक रूप] कारण, ब्राह्मणों की शाखा रूप ये कायस्थ-वर्गीय लोग, हुए, जिनका उत्तरार्ध में वर्णन किए जाने की दिशा को 'एषा' (यह) शब्द सूचित करता है । इस श्लोक से 'अमात्य-धर्मा' कायस्थ लोग ब्राह्मण-जातिविशेष ही सिद्ध होते हैं । इस महा-प्रशस्ति द्वारा शिव-मन्दिर के प्राङ्गण में लगे शिलालेख में राजवंश-वर्णन के साथ मन्दिर-मठ-निर्मापक का ऐसा स्व-वंश-वर्णन, राजा के साक्ष्य, और मन्दिर का सदुपयोग करने वाली जनता के सान्निध्य, में ११वीं शताब्दी के कायस्थों के समाज-सम्मत ब्राह्मणवर्णान्तर्गत शाखा-विशेष होने की सार्वजनिक मान्यता का परिचायक, और विरुद्ध-शङ्का-निवारण के लिए पर्याप्त, है ।

सङ्क्षेप से श्लोक ३५—४० इत्यादि में दिए गए इस वंश-विशेष की उत्पत्ति इस प्रकार से वर्णित हुई है । "विमल त्रिनेत्र से पवित्र-जन्म-प्राप्त काचर-नामक मुनीन्द्र थे, जिन ने कुलाञ्चा पुरी को त्रिलोकी का तिलक बना दिया ॥३५॥ आत्मविदों में श्रेष्ठ उन मुनि की चौथे जन्म वाले (?) ने सादर आराधना की···विश्ववन्द्य गङ्गा-तट पर ·····॥३६॥ '··· करके जो बृहस्पति के समान होगा उस वि-ख्यात-पुण्यचरित वाले पुत्र को प्राप्त करो' [ऐसा वर-दान]·······॥ ३७ ॥ "चूंकि तुम्हारे 'काय' में असङ्ख्य गुण-समूह 'स्थित' हैं, अतः 'काय-स्थ' इस नाम की जाति···॥३८॥····अनन्त कीर्ति वाला पुत्र जना, उस से "कायस्थ-वंश" प्रसृत हुआ ॥३९॥ उसके अन्वय (सन्तति) में क्रम से अ-सम (अनुपम) नीति-ज्ञ, सुधी, कृत-ज्ञ, सत्यव्रत, सुकृती, गुणवन्त

लोग प्रादुर्भूत हुए, जिन ने चिरकाल के भय-भीतों को अभय-दान दिया ···कमल ।।४०।।·······लोकहितात्मक, पूजित (महितस्य) सोमेश्वर का जन्म······।।४६।।········ [अनेक] प्रवर-पण्डित-पुण्डरीक·······।।४८।। ······उस से उत्पन्न हुआ, धर्मावतार सचिव (मन्त्री) उससे····।।५०।।···

अधिकतर अंश त्रुटित होने से इस लेख-वर्णित वंश के महानुभावों के नामों, विस्तृत विवरण, पदों, इत्यादि के विषय में, एकमात्र सोमेश्वर को छोड़ कर, कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। तथापि वंशकर (कूटस्थ) मूल-पुरुष को "इन्द्र-मन्त्री देवगुरु बृहस्पति के समान" होने का आशीर्वाद, कायस्थों में सामान्यतः वाञ्छनीय उच्च गुण-विशेषों की इस वंश में स्थिति, विख्यात पुण्य-चरित वाले पुरुष से कायस्थवंश का प्रसृत होना, सोमेश्वर के वैयक्तिक विशेषण, इस वंश में अनेक प्रवर-पण्डित-पुण्डरीक [-विकासक सूर्यों] का होना, तथा 'धर्मावतार' सचिव, इत्यादि सभी बातें इस कायस्थ-वंश के ब्राह्मणत्व की लिङ्गभूत हैं।

मिराशीजी ने "तुरीय-जन्मा" का जो 'शूद्र' अर्थ किया है, वह सर्वथा निष्प्रमाण-निराधार है। आश्चर्य है कि 'द्विजाति' के 'शूद्र' होने की विरुद्ध और असम्भव कल्पना उनने कैसे पचा ली। वस्तुतः शौक्ल, सावित्र, और याज्ञिक, इन तीन (श्रीमद्भागवत-श्रीधरी १०।२३।३९ और १०।४७।५८-प्रपञ्चित) ब्रह्म-जन्मों के परे ज्ञानी-भक्त बनाने वाला आध्यात्मिकी दीक्षा रूप 'ब्रह्म-सम्बन्ध'-नामक चौथा ब्रह्म-जन्म ही 'तुरीय जन्म' है, जिसे पाकर अनन्त-कथा-रस के प्रेमी के लिये पहले तीनों ब्रह्म-जन्म निष्प्रयोजन पड़ जाते हैं और उनसे सम्पन्न हुआ भी ब्राह्मण ज्ञान-भक्ति के अभाव में आत्मानुताप से अपने आप को धिक्कारता और विगर्हित मानता है। श्लोक ३५ का 'तुरीय-जन्मा', इसी चौथे जन्म को, वरिष्ठ आत्मज्ञानी काचर मुनीन्द्र से, पाकर उनकी सेवा-आराधना में लगा उत्तम ब्राह्मण था और इसके साथ ही श्लिष्ट-पद 'तुरीय-जन्मा' के अनुसार वह जन्म से काचर से चौथा छोटा भाई भी होता था, क्योंकि इस पद से पहले, 'कोई' (a certain) जैसा, अनिश्चयसूचक उप-पद (indefinite article) नहीं है। अतः उसका भाई-रूप से काचर

का रक्त-सम्बन्धी होना ही, (मानो definite article 'the' से संयुक्त) 'तुरीय-जन्मा' (fourth-born one) जैसे निश्चय-द्योतक पद के प्रयोग से सिद्ध होता है। मिराशीजी की समझ के दोष ने, उसे 'शूद्र' बनाकर, उन्हीं की योग्यता को लाञ्छित कर दिया है। मिराशी जी की इस ग़लती का विस्तृत विचार फिर किया जाएगा। अतः इस शिलालेख के अनुसार कायस्थ-वंश निर्बाध रूप से 'द्विजाति' (ब्राह्मण-वर्ण की शाखा) ही सिद्ध होता है।

(२)

एपिग्राफ़िया इण्डिका जिल्द २२ पृष्ठ ९७-९८ में ८वीं शताब्दी की शारदा लिपि में खुदा हुआ एक संस्कृत शिलालेख प्रकाशित हुआ है। इसमें—उपेन्द्र-पुत्र जयन्तराज 'सूर्य-द्विज' (अवन्ती-निवासी), वीरादित्य-पुत्र श्रीपिल्लक 'ब्राह्मण', तथा 'कायस्थ' श्रीविहेन्द्र-पुत्र श्रीभोगिक 'सूर्य-द्विज' इन तीन ब्राह्मण कर्मचारियों के नाम आए हैं। इनमें तीसरा (श्रीभोगिक-नामा) 'सूर्य-द्विज' (अर्थात् जाति से मग शाकद्वीपीय ब्राह्मण) होता हुआ भी "कायस्थ" (अर्थात् शिलालेख के शासनपत्र का लेखक') था। प्रथम (जयन्तराज) का पद "नव-कर्म-पति" जाति 'सूर्यद्विज', द्वितीय (श्रीपिल्लक) का पद "पञ्चकुल" जाति 'ब्राह्मण', तथा तृतीय (श्रीभोगिक) का पद "कायस्थ" और जाति 'सूर्यद्विज' है।

(३)

जैसा पहले ही विशदरूप से दिखाया जा चुका है, याज्ञवल्क्यस्मृति (१।३३६) पर ११वीं शताब्दी की "मिताक्षरा टीका" में "कायस्थ" का अर्थ 'गणक' और 'लेखक' लिया गया है। उस पर "वीरमित्रोदय"— "अध्ययनेन वेदाध्ययनम्। श्रुताध्ययन-सम्पन्न-मित्युक्तेर्गणको द्विजातिः। तत्साहचर्याल्लेखकोऽपि।" के अनुसार ये—'गणक' और उसका साथी 'लेखक' —दोनों "द्विजाति" (ब्राह्मण) होते हैं। क्योंकि व्यास-स्मृति के प्रमाण से 'गणक', और उसी 'गणक' का सहचर होने से, 'लेखक' भी, गणित जातक तथा सिद्धान्त, तीनों स्कन्ध ज्योतिष का अभिज्ञ, और 'श्रुत' (वेद के गुरुमुख से श्रवण, अथवा ज्ञान) तथा 'अध्ययन' (कण्ठाग्र वेदपाठ) से सम्पन्न होना चाहिए।

✓ (४) पाटलिपुत्र के महाराज नन्द का मन्त्री शकटाल (अथवा शकटार), जिसका विस्तृत वर्णन "कथा-सरित्-सागर" इत्यादि में आया है और जिसे मैथिल विद्यापति ने अपनी संस्कृत "पुरुष-परीक्षा" में 'कायस्थ' लिखा है, प्राचीनतर जैन ग्रन्थों से ब्राह्मण सिद्ध होता है।

(५) राजतरङ्गिणी में (कश्मीर के) कायस्थ

कायस्थेतिहास-लेखकों में गिने जाने वाले—"राजतरङ्गिणी" के इङ्लिश में प्रथम अनुवादक श्रीयोगेशचन्द्र दत्त, "कायस्थ-वर्णनिर्णय" (बँगला) और "हिन्दी-विश्वकोश" के लेखक और सम्पादक पं० नगेन्द्रनाथ वसु (कलकत्ता), "कश्मीर में कायस्थ जाति" इत्यादि के प्रणेता स्वामी विद्यानन्द श्रीवास्तव्य (मुज़फ्फ़रपुर-विहार), "हिन्दू सोशियालोजी," "चित्र-वंश-निर्णय" भाग १-३ इत्यादि के रचयिता पं० कामताप्रसाद श्रीवास्तव्य (खरे) कालीमहल (वाराणसी), "कायस्थ-राजतरङ्गिणी" (उर्दू) के मुसन्निफ़ मु० संकठाप्रसाद जी उपदेशक (जौनपुर), "मुख्तसर तारीख़ अक़्वामुल् कायस्थ व प्रभु व ठाकुर" (उर्दू) और "हिस्ट्री आव् द कायस्थज़" (इङ्लिश) के रचयिता मास्टर गोपीनाथसिंह साहब (बरेली), "कायस्थ-वर्ण-निर्णय" (उर्दू) के सङ्ग्राहक डाक्टर अङ्गनलाल (फ़ीरोज़पुर-पञ्जाब), "कायस्थ-सर्वस्व" ग्रन्थ के सङ्कलयिता पं० देवीचन्द्र शास्त्री (जोधपुर-राजस्थान), इत्यादि ने—जो अपनी रचनाओं में ही आज हमारे मध्य में विद्यमान हैं—यह मानकर कि "कायस्थ" नाम की कोई पृथक् जाति सदा से चली आती थी काश्मीर के कार्कोटवंशीय राजाओं की जाति "कायस्थ" और अतः कायस्थों का वर्ण "क्षत्रिय" निर्धारित करके, और ६ ने तो संस्कृत "राजतरङ्गिणी" के दर्शन भी न करके, तथा उस में "कायस्थ" शब्द से परिचित व्यक्तियों पर वस्तुतः रञ्चकमात्र भी अन्वेषणात्मक विचार न करके, वास्तविक इतिहास का गला घोंटते हुए, सर्वथा मिथ्याप्रचार की परम्परा को ही प्रश्रय दिया है।

इस भ्रम और मिथ्या-प्रचार का प्रमार्जन हम "कायस्थ-समाचार" (प्रयाग) दिसम्बर १९२९ से मई १९३० तक, "ए काम्प्रिहेन्ज़िव् स्टडी इण्टु दि ऑरिजिन् ऐण्ड् स्टेटस् आव् द कायस्थज़" (ओरिएण्टल कान्फ़रेन्स

का रक्त-सम्बन्धी होना ही, (मानो definite article 'the' से संयुक्त) 'तुरीय-जन्मा' (fourth-born one) जैसे निश्चय-द्योतक पद के प्रयोग से सिद्ध होता है। मिराशीजी की समझ के दोष ने, उसे 'शूद्र' बनाकर, उन्हीं की योग्यता को लाञ्छित कर दिया है। मिराशी जी की इस ग़लती का विस्तृत विचार फिर किया जाएगा। अतः इस शिलालेख के अनुसार कायस्थ-वंश निर्बाध रूप से 'द्विजाति' (ब्राह्मण-वर्ण की शाखा) ही सिद्ध होता है।

(२)

एपिग्राफ़िया इण्डिका जिल्द २२ पृष्ठ ९७-९८ में ८वीं शताब्दी की शारदा लिपि में खुदा हुआ एक संस्कृत शिलालेख प्रकाशित हुआ है। इसमें—उपेन्द्र-पुत्र जयन्तराज 'सूर्य-द्विज' (अवन्ती-निवासी), वीरादित्य-पुत्र श्रीपिल्लक 'ब्राह्मण', तथा 'कायस्थ' श्रीविहेन्द्र-पुत्र श्रीभोगिक 'सूर्य-द्विज' इन तीन ब्राह्मण कर्मचारियों के नाम आए हैं। इनमें तीसरा (श्रीभोगिक-नामा) 'सूर्य-द्विज' (अर्थात् जाति से मग शाकद्वीपीय ब्राह्मण) होता हुआ भी "कायस्थ" (अर्थात् शिलालेख के शासनपत्र का लेखक') था। प्रथम (जयन्तराज) का पद "नव-कर्म-पति" जाति 'सूर्यद्विज', द्वितीय (श्रीपिल्लक) का पद "पञ्चकुल" जाति 'ब्राह्मण', तथा तृतीय (श्रीभोगिक) का पद "कायस्थ" और जाति 'सूर्यद्विज' है।

(३)

जैसा पहले ही विशदरूप से दिखाया जा चुका है, याज्ञवल्क्यस्मृति (१।३३६) पर ११वीं शताब्दी की "मिताक्षरा टीका" में "कायस्थ" का अर्थ 'गणक' और 'लेखक' लिया गया है। उस पर "वीरमित्रोदय"— "अध्ययनेन वेदाध्ययनम्। श्रुताध्ययन-सम्पन्न-मित्युक्तेर्गणको द्विजातिः। तत्साहचर्याल्लेखकोऽपि।" के अनुसार ये—'गणक' और उसका साथी 'लेखक' —दोनों "द्विजाति" (ब्राह्मण) होते हैं। क्योंकि व्यास-स्मृति के प्रमाण से 'गणक', और उसी 'गणक' का सहचर होने से, 'लेखक' भी, गणित जातक तथा सिद्धान्त, तीनों स्कन्ध ज्योतिष का अभिज्ञ, और 'श्रुत' (वेद के गुरुमुख से श्रवण, अथवा ज्ञान) तथा 'अध्ययन' (कण्ठाग्र वेदपाठ) से सम्पन्न होना चाहिए।

(४) पाटलिपुत्र के महाराज नन्द का मन्त्री शकटाल (अथवा शकटार), जिसका विस्तृत वर्णन "कथा-सरित्-सागर" इत्यादि में आया है और जिसे मैथिल विद्यापति ने अपनी संस्कृत "पुरुष-परीक्षा" में 'कायस्थ' लिखा है, प्राचीनतर जैन ग्रन्थों से ब्राह्मण सिद्ध होता है।

(५) राजतरङ्गिणी में (कश्मीर के) कायस्थ

कायस्थेतिहास-लेखकों में गिने जाने वाले—"राजतरङ्गिणी" के इङ्लिश में प्रथम अनुवादक श्रीयोगेशचन्द्र दत्त, "कायस्थ-वर्णनिर्णय" (बँगला) और "हिन्दी-विश्वकोश" के लेखक और सम्पादक पं० नगेन्द्रनाथ वसु (कलकत्ता), "कश्मीर में कायस्थ जाति" इत्यादि के प्रणेता स्वामी विद्यानन्द श्रीवास्तव्य (मुज़फ्फ़रपुर-विहार), "हिन्दू सोशियालोजी," "चित्र-वंश-निर्णय" भाग १-३ इत्यादि के रचयिता पं० कामताप्रसाद श्रीवास्तव्य (खरे) कालीमहल (वाराणसी), "कायस्थ-राजतरङ्गिणी" (उर्दू) के मुसन्निफ़ मु० संकठाप्रसाद जी उपदेशक (जौनपुर), "मुख़्तसर तारीख़ अक़्वामुल् कायस्थ व प्रभु व ठाकुर" (उर्दू) और "हिस्ट्री आव् द कायस्थज़" (इङ्लिश) के रचयिता मास्टर गोपीनाथसिंह साहब (बरेली), "कायस्थ-वर्ण-निर्णय" (उर्दू) के सङ्ग्राहक डाक्टर अङ्गनलाल (फ़ीरोज़पुर-पञ्जाब), "कायस्थ-सर्वस्व" ग्रन्थ के सङ्कलयिता पं० देवीचन्द्र शास्त्री (जोधपुर-राजस्थान), इत्यादि ने—जो अपनी रचनाओं में ही आज हमारे मध्य में विद्यमान हैं—यह मानकर कि "कायस्थ" नाम की कोई पृथक् जाति सदा से चली आती थी काश्मीर के कार्कोटवंशीय राजाओं की जाति "कायस्थ" और अतः कायस्थों का वर्ण "क्षत्रिय" निर्धारित करके, और ६ ने तो संस्कृत "राजतरङ्गिणी" के दर्शन भी न करके, तथा उस में "कायस्थ" शब्द से परिचित व्यक्तियों पर वस्तुतः रञ्चकमात्र भी अन्वेषणात्मक विचार न करके, वास्तविक इतिहास का गला घोंटते हुए, सर्वथा मिथ्याप्रचार की परम्परा को ही प्रश्रय दिया है।

इस भ्रम और मिथ्या-प्रचार का प्रमार्जन हम "कायस्थ-समाचार" (प्रयाग) दिसम्बर १९२९ से मई १९३० तक, "ए काम्प्रिहेन्ज़िव् स्टडी इण्टु दि ऑरिजिन् ऐण्ड् स्टेटस् आव् द कायस्थज़" (ओरिएण्टल कान्फ़रेन्स

पटना १९३० में पठित, "मैन इन् इण्डिया" रांची १९३१ में प्रकाशित (निबन्ध), "भट्टनागर-समाचार" (सम्भल-मुरादाबाद), "उषा" (कायस्थ-ब्राह्मणाङ्क दिल्ली, १९३२), इ० में करते आ रहे हैं। यहां अतिसङ्क्षिप्त विचार प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे तथ्य की दिशा का दृष्टि-गोचर कराना इष्ट है—

कार्कोट-वंश का प्रथम राजा दुर्लभवर्धन पहले "अश्वघास" (घोड़ों की घास के सरकारी विभाग) का "कायस्थ" (सर्वोच्च अधिकारी) था। दुर्लभवर्धन के हाथ में कश्मीर-राज्य के आने की सङ्क्षिप्त कथा यों है—

गोनन्द-वंश के अन्तिम महाराज बालादित्य के, पुत्री अनङ्गलेखा छोड़ अन्य, कोई सन्तति न थी। ज्योतिषी के मुख से यह सुन कर कि तुम्हारा जामाता पृथ्वी-भोग का भाजन होगा राजा ने भाग्य को पौरुष से जीतने का यत्न किया। 'यदि यह कन्या, किसी ऐसे को दी जाए जो राजान्वयी (क्षत्रिय) न हो तो मेरे साम्राज्य का हरण न करेगी', राजा ने ऐसा मानकर कन्या किसी भू-भुज् को नहीं दी, और केवल रूप-सौन्दर्य का हेतु लेकर "अश्वघास के कायस्थ" दुर्लभवर्धन को जामाता बनाया—(राजतरङ्गिणी तरङ्ग ३ श्लोक ४८४-४८९)।

इस के अनन्तर पृथिवी गोनन्द राजा के पवित्र कुल से विलगित हुई अति-पवित्र कार्कोट-नाग-कुल में जा कर स्थिति को प्राप्त हुई, जैसे देव-नदी (गङ्गा) चिर-परिचित सुविस्तृत स्वर्ग-मार्ग से गिर कर त्रिभुवन-गुरु शम्भु के मस्तक पर जा विराजी—तरङ्ग ३ श्लोक ५३०)।

इस से, तथा श्लोक ५२९ में शेषनाग का ज्ञाति (सगोत्र, बान्धव) बताकर दुर्लभवर्धन का सुक्षत्रिय (१।६४) गोनन्द के पवित्र कुल से भी अति-पवित्र, ब्राह्मण-नाग-कुलोत्पन्न होना सूचित किया गया है, क्योंकि शेष, अग्निपुराण (पूना-२९४।२-४) और महाभारत (आदिपर्व अ० ३६) से तथा कर्कोट महाभा० (वनपर्व ६३।७,१८) से, ब्राह्मण सिद्ध होते हैं।

राजतरङ्गिणी भर में "कायस्थ" शब्द का प्रयोग जात्यर्थ में कहीं भी नहीं हुआ है, यद्यपि यह शब्द ४० से अधिक स्थलों में प्रयुक्त हुआ है। कार्कोट-कुल के दुर्लभवर्धनादि राजा, मूलतः ब्राह्मण होते हुए भी, भले ही

राजा होने के नाते 'क्षत्रिय' समझे जाएं, परन्तु इन राजाओं की जाति "कायस्थ" मानना सर्वथा युक्ति-प्रमाण-शून्य है। दुर्लभवर्धन निश्चय ही पहले "अश्वघास" मोहकमे के सर्वोच्च अधिकारी के अर्थ में "कायस्थ" था। परन्तु (६०० ई० के आस-पास) जब से वह या उसके वंशज राजगद्दी पर बैठे, वे 'राजा' होकर, फिर किस नाते "कायस्थ" होगए? विशेषत: जब केवल कश्मीर में ही नहीं, अथवा उस समय (७वीं-८वीं शताब्दी) के ही नहीं, बल्कि "राजतरङ्गिणी" के निर्माणकाल (मध्य १२वीं शताब्दी) तक के भारत में भी "कायस्थ" केवल पद नाम था, आज-जैसा जाति-नाम नहीं था, प्रत्युत पीछे भी जाति-नाम वालभ, गौड, नैगम, इत्यादि ही प्रसिद्ध हुए और "कायस्थ" शब्द केवल पेशा-सूचक ही चलता रहा। यदि ये राजे अपनी जाति "कायस्थ" मानते होते तो एक ब्राह्मणी महाराज चन्द्रापीड (७१३-७२० ई०) के आगे अपने निर्दोष पति के मार डाले जाने पर फ़रियाद करती हुई उसके अपराधी होने का सन्देह एक क्षुद्रविद्या वाले आभिचारिक ब्राह्मण पर प्रकट करने के सिलसिले में किस हिम्मत से राजा के मुंह पर यहाँ तक कह सकती थी कि 'कायस्थ' के विना दूसरा कृतघ्न-बुद्धि नहीं होता है। परन्तु वह तो तरङ्ग ४ के श्लोक ९०-९२—"नापौंश्चलेयो दुःशीलो नाद्रोहो नित्यशङ्कितः। नावाचालो मृषाभाषी नाकायस्थः कृतघ्नधीः ॥········नाक्षुद्रविद्यः पापीयान्······॥"—सिवाय छिनाल के पुत्र के दूसरा दुश्चरित्र नहीं होता है, सिवाय वाचाल के दूसरा मिथ्या-भाषण-रत नहीं होता है, सिवाय 'कायस्थ' (सरकारी कर्मचारी) के दूसरा एहसान-फ़रामोश नहीं होता है ॥······सिवाय क्षुद्रकोटि की विद्या वाले के दूसरा कोई बड़ा पापी नहीं होता है॥"—में निडर होकर 'कायस्थ' की ऐसी निन्दा करती है। इस से स्पष्ट है कि ब्राह्मणी और राजतरङ्गिणीकार इन दोनों की दृष्टि में ही नहीं बल्कि कार्कोट-वंशीय राजा चन्द्रापीड की अपनी दृष्टि में भी केवल सरकारी अफ़सर या कर्म-चारी ही "कायस्थ" कहलाते थे, जो राज-काज के सम्बन्ध में मेल-मुला-क़ात-मुरव्वत को वाला-ए-ताक़ रख कर तोता-चश्मी, बेरुखी बल्कि सख्ती

तक से पेश आने पर आमादः हो जाते हैं। और राजा स्वयं तो किसी भी अर्थ में "कायस्थ" नहीं हो सकता था। न तो वह सरकारी कर्मचारी या अफ़सर था, क्योंकि वह स्वयं महाराजा था। और न जाति से 'कायस्थ,' क्योंकि ब्राह्मणों से पृथक् यह कोई 'जाति' न थी, यदि होती तो राजा के मुंह पर उसी की जाति की निन्दा नहीं की जा सकती। अतः यहीं सिद्ध होता है कि सरकारी अफ़सर या अहल्कार ही "कायस्थ" कहलाते थे और न कि रोटी-बेटी-सम्बन्ध वाली किसी जाति के लोग।

कार्कोट-वंशीय राजाओं के किसी अर्थ में भी 'कायस्थ' न होने, और तब तक रोटी-बेटी-सम्बन्ध वाली इस नाम की जाति की सर्वथा अविद्यमानता, तथा "कायस्थ" शब्द का प्रयोग अथवा एकमात्र अर्थ केवल व्यक्तिगत मन्त्री इत्यादि बड़े-छोटे- राजकर्मचारियों के पदों तक सीमित होने, का दूसरा और प्रबलतर प्रमाण स्वयं महाराज के ही शब्दों में कवि ने इसी तरङ्ग के इस प्रसङ्ग [के श्लोक ३५१-३५२] में यों निवद्ध किया है। कश्मीर से सुदूर-वर्ती उत्तरीय देश की चढ़ाई पर गया हुआ (सन् ७३६ ई० के आस-पास का) महाराज ललितादित्य मुक्तापीड अपना वहां से लौटना असम्भव समझकर, मन्त्रियों के भेजे और बुलाने को आए हुए दूत के ही मुख के द्वारा, उन मन्त्रियों को सन्देश भेजता हुआ कहता है—

"प्रदेशादेकतो रूढा यदा वृत्तिश्च शस्त्रिणाम्। अन्योन्योद्वाहसम्बन्धैः कायस्थाः संहता यदि। कर्म-स्थानानि वीक्षन्ते क्षमापाः कायस्थवद् यदा। तदा निःसंशयं ज्ञेयः प्रजा-भाग्य-विपर्ययः ॥"—'जब एक ही प्रदेश-विशेष से सैनिकों की जीविका रूढ हो जाए, यदि 'कायस्थ' आपस में ही विवाह-सम्बन्धों को करके सङ्घ बना लें, जब राजा कायस्थों (मोहकमों के अफ़सरों) की तरह राज्य-व्यवस्था के विभागों का निरीक्षण करने लगें, तब निस्सन्देह समझना चाहिए कि प्रजा के भाग्य का उलट-फेर होगा।'

यहाँ श्लोक ३५१ में आए वर्णन से स्पष्ट है कि राज्य के सञ्चालक मन्त्रियों को राजा ने तीन बातें बचाने का सन्देश भेजा है जिनसे प्रजा-पीडन हुआ करता है। प्रथम तो सैनिकों, या फ़ौज के ख़र्च, के देने का बोझ किसी एक प्रान्त के ऊपर न जा पड़े, दूसरे कायस्थों (सरकारी

अफ़सरों या कर्मचारियों) के वैवाहिक सम्बन्ध कायस्थों (अपने ही पेशे वालों) से न होने दिए जाएँ [नहीं तो ये लोग अनिष्टरूप परस्पर-सङ्घटन करके (मनु०७।१२३, याज्ञवल्क्य०१।३३६, अग्निपुराण २२३।११-१२, इत्यादि—प्रदर्शित) गत पृष्ठ २०-२१ में वर्णित निरीह-प्रजा के पीडक हो बैठेंगे, जिनसे प्रजा की रक्षा, सर्वोदय रूप न्यायोचित राज्य के लिए विषम-विषमय समस्या उपस्थित कर देती है], और तीसरे राजा लोग (अविश्वास और लोभ के शिकार होकर) कायस्थों (विविध-विभागीय अफसरों और कर्मचारियों) की कोटि में स्वयम् उतर कर आय-व्यय की जांच द्वारा राज-कोष बढ़ाने के लिए स्वयं ही प्रजा-पीडन के हेतु न बन सकें।

यदि 'कायस्थ' वैयक्तिक वृत्ति-नाम-विशेष न होकर जाति-नाम होता, तो कायस्थों का परस्पर में विवाह-सम्बन्ध करना और अतएव जाति-बिरादरी में सङ्घटित-होना सर्वथा स्वाभाविक ही होता, और तब उस परिस्थिति की स्वाभाविकता के विपरीत, एक नीति-निपुण राजा का ही नहीं, किसी सामान्य अ-विकृत-मस्तिष्क पुरुष का भी "यदि" लगाना, अथवा परस्पर-विवाह से भय-भीत होना या उसकी रोक-थाम की बात सोचना, असम्भव होता। 'राजा लोग ही जब कायस्थों के समान कर्म-स्थानों की जांच करने लगें' से अतिस्पष्ट है कि राजा और कायस्थ भिन्न-भिन्न हैं, अर्थात् राजा 'कायस्थ नहीं' हैं।

दुर्लभवर्धन का 'कायस्थत्व' तो राजा होते ही निवृत्त हो गया था। उसे अथवा उसके वंशज किसी महाराज को कह्लण ने कहीं भी स्पष्ट रूप से "क्षत्रिय" नहीं कहा है, क्योंकि कार्कोट-नाग के ये वंशज मूलतः ब्राह्मण थे, जैसा प्रदर्शित किया जा चुका है।

कश्मीर में राजशक्ति के परिपोषक ब्राह्मण तो मन्त्री सचिव कायस्थ इत्यादि पदों से सम्बन्ध रखते थे। और मठों की सम्पत्ति में हिस्सेदार तथा कर्मकाण्डी ब्राह्मण अपना सङ्घ अलग बनाए हुए थे। इनका परिचय कहलण ने 'पारिषद्य' द्विज कह कर दिया है। ये जब चाहते तभी, किसी निमित्त से उपवास द्वारा जीवन-त्याग करने के लिए कुश बिछाकर

बैठ जाते थे। प्राण-त्याग को संस्कृत में "प्रायण" अथवा "प्राय" कहते हैं और उसके लिए धरना धरने को "प्रायोपवेश"। ऐसा करनेवालों का वर्णन "प्राय-स्थ" शब्द से कल्हण ने राजतरङ्गिणी के बीसों स्थलों में किया है। राजनीतिक दृष्टि से इन "कायस्थ" और "प्रायस्थ" दोनों प्रकार के ब्राह्मणों में परस्पर सङ्घर्ष रहता था, परन्तु इन दोनों में जाति, या विवाह-सम्बन्धों, अथवा कुल-गोत्र, का भेद नहीं था—प्रत्युत दोनों के बीच में बहुधा चचा-भतीजों का सा सामीप्य-सम्बन्ध सिद्ध होता है मठों के पारिषद्य ब्राह्मणों में से ही कितनेक वैयक्तिक रूप से कायस्थ, मन्त्री, इत्यादि पदों को पा लेते थे, और उनका राजनीतिक गुट बदल जाता था। मन्त्री, सचिव, का पद, सामान्य कायस्थ-पद से ऊँचा था। कहीं-कहीं किसी राजा अथवा शक्तिशाली पुरुष को गिराने के लिए ये दोनों प्रकार के ब्राह्मण मिल जाते थे और उन में प्रायः मन्त्रि-ब्राह्मण पारिषद्यब्राह्मणोंको अपना हथियार बनाते थे,यथा—"(७।१३)अथ तुङ्गादि-भङ्गाय प्रायं ब्राह्मण-मन्त्रिणः। परिहासपुरे विप्र-पारिषद्यानकारयन्॥"—के अनुसार, कनक-नाम कायस्थ (८।५७०) के चाचा प्रशस्तकलश के पिता (७।५७२) राजकलश-प्रमुख (७।२०) ब्राह्मण-मन्त्रियों ने तुङ्ग इत्यादि को गिराने के लिए परिहासपुर में पारिषद्य ब्राह्मणों से 'प्राय' कराया था। (८।८७९,९००, इत्यादि भी द्रष्टव्य हैं।) तरङ्ग ८ श्लोक ११०—"कायस्थ-कुटुम्बि-क्लृप्ति-सचिव-प्रायस्थ-पञ्चानली"—में 'कायस्थ' और 'प्रायस्थ' दोनों ही उन ५ अग्नियों में गिनाये गये हैं, जिनसे राजधानी जल रही थी।

पूर्वोक्त ब्राह्मणी के न्यायार्थ कार्कोट-वंशीय महाराज चन्द्रापीड ने स्वयं त्रिभुवनस्वामी के मन्दिर में प्रतिमा के आगे प्रायोपवेश किया था, जो कश्मीर में ब्राह्मणों की ही विशेषता थी, और तीन रात के उपवास पर रात के अन्तिम पहर में राजा के स्वप्न में देवोत्तम सत्यारूढ (भगवान् त्रिभुवनस्वामी) ने स्वयं प्रकट होकर (ब्राह्मणी के पति को मारने वाले की) सत्य बात बता दी—(तरङ्ग ४ श्लोक ९९-१००)। यहाँ महाराज चन्द्रापीड का प्रायोपवेश करना मूलतः

ब्राह्मण-वशोय दवी हुई प्रवृत्ति का प्रदर्शक है। और आगे ७८० ई० के आस-पास के महाराज जयापीड की ब्राह्मणो-चित विद्वत्ता के स्वरूप पर भी एक दृष्टि तरङ्ग ४ के श्लोक ४८८ से ४९१ तक के इस वर्णन से डाली जा सकती है—

"देशान्तरादागमय्य, व्याचक्षाणः क्षमापतिः। प्रावर्तयत विच्छिन्नं महाभाष्यं स्व-मण्डले॥ क्षीराभिधाच्छब्दविद्यो-पाध्यायात् सम्भृतश्रुतः। बुधैः सह ययौ वृद्धिं स जयापीड-पण्डितः॥ भूपतेरात्मना स्पर्धां चक्षमे स न कस्यचित्। आत्मनस्तु बुधैः स्पर्धां शुद्धधी-र्बहुमन्यत॥ तावत् पण्डित-शब्देऽभूद् राज-शब्दादपि प्रथा। तैस्तैर्दोषैर्न तु म्लानिं कालान्तर-वदाययौ॥" राजा (जयापीड) ने पतञ्जलि के व्याकरण-महाभाष्य को, (जो कश्मीर से लुप्तप्राय हो चुका था) देशान्तर से मँगवाकर उसकी स्वयं व्याख्या करते हुए अपने [कश्मीर] मण्डल में प्रचारित किया। वह जयापीड 'पण्डित' [बाल्यकाल से ही] व्याकरणशास्त्र के क्षीरस्वामि-नामक उपाध्याय से ज्ञानार्जन करके विद्वानों के साथ ही वृद्धि को प्राप्त हुआ था। उस शुद्ध बुद्धि वाले ने किसी राजा की अपने साथ की गई स्पर्धा (बराबरी) का सहन तो [कभी] नहीं किया परन्तु विद्वानों से अपनी स्पर्धा को सदा बहुमान दिया—अर्थात् वह अद्वितीय युद्धवीर और साथ ही अति-विनम्र महापण्डित था। तब तक "राजा" शब्द से भी अधिक "पण्डित" शब्द में प्रतिष्ठा थी और कालान्तर की जैसी, विविध दोषों [के आ जाने] से, फीकी नहीं पड़ गई थी।

अब तो वेद-वेदाङ्गों के ज्ञान (विद्वत्त्व) की कौन कहे, संस्कृत-ज्ञान से हीन, बल्कि साक्षरता से भी शून्य, अर्दली, चपरासी, अन्न-पाचक, इत्यादि, निकृष्ट वर्ग की शारीरिक सेवा करने वालों तक के लिए 'पण्डित' पद का प्रयोग किया जाकर इसकी जो दुर्दशा की जा रही है उस पर स्वर्गस्थ भी प्राचीन पण्डित आठ-आठ आँसू बहाए विना न रहते होंगे। कुशल है कि अब भी बङ्गाल और दक्षिण, में 'पण्डित' संस्कृत के विद्वान् को ही कहते हैं। वस्तुतः सद्-असत् का विवेक करने वाली आत्म-विषया-बुद्धि (पण्डा) के आने पर ही कोई "पण्डित" कहाने के योग्य हो सकता है।

अस्तु । चतुर्थ तरङ्ग के कार्कोट-वंशीय महाराजे कभी 'कायस्थ' नहीं हुए बल्कि ब्राह्मण-नाग कार्कोट के कुल का केवल प्रथम महाराज दुर्लभवर्धन भी, जो राजा होने से पहले 'अश्वघास का कायस्थ' था, राजा होते ही 'कायस्थ' नहीं रह गया था ।

काश्मीरिक क्षेमेन्द्र-कृत "लोक-प्रकाश" के प्र० ३ (वेवर-सम्पादित) "इण्डिशे स्टडीन," जिल्द १८ पृष्ठ ३४६-५० में—दिविरः ४७, गञ्ज-दिविरः ४८, नगरदिविरः ४६, ग्रामदिविरः ५०, खवाशदिविरः ५१, कायस्थः ५२, लिपिज्ञः ५३, गणकः ५४—ये समान-वृत्ति लोगों के नाम पर्याय-रूप से आए हैं, जिनका सामान्य कार्य सरकारी लिखा-पढ़ी और हिसाब रखने का है । कहीं-कहीं "दिविर" शब्द केवल "लेखक" के लिए और "कायस्थ" "अफ़सरे-माल" के लिए कुछ अर्थ-भेद से भी प्रयुक्त होते हैं, जैसे बृहत्पराशर-संहिता के पूर्वोद्धृत (१२।१०) श्लोक में 'लेखक' और 'कायस्थ', अथवा—"निसर्गवञ्चका वेश्याः कायस्थो दिविरो वणिक्" (राजतरङ्गिणी ८।१३१)।।—'वेश्याएँ कायस्थ दिविर और बनिया, ये स्वभावतः वञ्चक होते हैं'—में 'कायस्थ' और 'दिविर' एक ही वाक्य में भिन्न-भिन्न अर्थों में आए हैं । फिर भी 'दिविर' और 'कायस्थ' इत्यादि शब्दों के प्रयोग एक ही अर्थ में कहलण ने किए हैं—जैसे 'ग्राम-कायस्थ' (५।१७५, २६५), 'ग्राम-दिविर' (७।६), 'ग्राम-नियोगी' (७।७२७) 'ग्राम-कार्यी' (८।२३३८), इत्यादि ।

इसी प्रकार क्षेमेन्द्रकृत "लोक-प्रकाश" (पृष्ठ ३०३-३०४) में 'ब्राह्मण' के पर्याय—ब्राह्मण, द्विज, वेद-पारग, वेदान्त-पारग, हैरण्यगर्भ, श्रिमामन्त, श्राद्धभुक्, ऋत्विक्, याज्ञिक, यज्वा, सामन्त, भट्ट, त्रिसन्ध्यो-पासक, विप्र, पुरोहित, विबुध, सत्यपाल, ऋजु, दण्डी, पवित्रभृत्, आदि-वर्ण, वर्णज्ञ, दान्त, शान्त, आए हैं ।"

अब राजतरणिङ्गी में "कायस्थ"-नाम-रूप से परिचित व्यक्तियों की जाति अथवा वर्ण का विचार प्रस्तुत किया जाता है—

भट्ट (अर्थात् ब्राह्मण) फल्गुण ने, जो पहले महाराज यशस्कर का सचिव रह चुका था और पीछे से महाराज क्षेमगुप्त का अनुजीवी, द्वार-पति और मुख्यमन्त्री हुआ, अपनी कन्या चन्द्रलेखा का विवाह महाराज से किया था। यह मुख्य-मन्त्री फल्गुण तो ब्राह्मण था और महाराज क्षेमगुप्त महाराज पर्वगुप्त के पुत्र थे। महाराज पर्वगुप्त स्वयं राजानक (ब्राह्मण मन्त्री) से राजा हुए—"स पार्थिवत्व-मन्त्रित्व-मिश्रया चेष्टया स्फुरन्। राजा राजानकश्चेति मिश्रामेव धियं व्यधात् ॥" —"वह राजा होने और मन्त्री होने की मिश्रित चेष्टा से प्रकाशमान होते हुए 'राजा' और 'राजानक' का सम्मिलित भाव ही प्रकट करते थे (६।११७)।"

क्षीरस्वामी, कैयट, मम्मट, रत्नाकर, आनन्द, इत्यादि बहुत बड़े विद्वान् राजानक-वंशीय काश्मीरिक ब्राह्मणों में हो गए हैं। यह वंश अब कश्मीरियों में 'राज़दान' के नाम से प्रसिद्ध है। इस विषय में राजतर० ४।४८६ और ६।११७ पर स्टाइन का नोट द्रष्टव्य है। कश्मीरी 'राज़दानों' के समान राजस्थान के सभी कायस्थ 'राज-धाने' कहलाते हैं। इन राजानक महाराज पर्वगुप्त के पिता सङ्ग्रामगुप्त मंत्री थे जो 'पारे-विशोक-स्थित अभिनव नामक 'दिविर' अर्थात् 'कायस्थ' के पुत्र थे। तरङ्ग ६ श्लोक १०३, ११५, ११६, ११७, १५०, १६८, १७६, १६४ में वर्णित विस्तृत विवरण के उक्त सङ्क्षेप से यह सिद्ध है कि भट्ट फल्गुण के समान महाराज क्षेमगुप्त और उनके पूर्वज तथा मूल-पुरुष अभिनव नाम "कायस्थ" सभी ब्राह्मण जाति अथवा वर्ण के थे।

कश्मीर के पुरोहित-जातीय ब्राह्मण जो देव-मन्दिरों मठों अथवा तीर्थों में हिस्सेदार होते थे 'पारिषद्य' अथवा 'पार्षद' कहलाते थे। जैसा "द्विज-पर्षदे" (१।८७), "विप्र-पारिषद्यान्", (१।१३), "परिषद्य-द्विजातयः" (८।६०७), "पारिषद्य-विप्राद्याः" (८।६३६) इत्यादि प्रयोगों से स्पष्ट है। इन्हीं में से एक—"पार्षदः समरस्वामि-देवागारे सहेलकः। आप्तो विजय-मल्लस्य यो राज्ञो द्वेष्यतां ययौ ॥ द्विगुणोत्पत्ति-दानेन सोऽर्थ-नायकतां गतः। लब्धावकाशो राजाग्रे क्रमेणासीन्महत्तमः ॥"... कायस्थश्च हृता-

खिलार्थमहिमा कृच्छ्रे नृपं पातयन्······॥ भुक्तदेयधनो बिभ्यत् तं सहेल-महत्तमः। उर्वीपतिं दुर्व्यसने प्रैरयत् स्वार्थ-पण्डितः ॥ तत्क्षणं क्षीण-भाग्यस्य यथा द्वार-पतिस्तथा। कार्यस्थः कम्पने राज्ञः सहेलोऽभून्महत्तमः। जिघांसवः पापकामाः परस्वादायिनो शठाः। रक्षांस्यधिकृता नाम तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥ तेनेतिहासिनीं नीतिं श्रद्दधानेन सर्वदा। येन सम्पठता श्लोकं कायस्थोन्मूलनं कृतम् ॥ कार्यान्निवार्य बहुशः सहेलाद्यान् महत्तमान्। भङ्गासूत्रमयं वासः कारायां पर्यधापयत् ॥ अथ राजा निवार्याद्यान् सहेलादीन् महत्तमान्। सर्वाधिकारे विदधे कायस्थं गौरकाभिधम् ॥ स तापसस्य सम्बन्धी कस्यचिद् विजयेश्वरे। सेवया लोहरस्थस्य तस्य वाल्लभ्यमाययौ ॥ शमिते पूर्व-कायस्थ-वर्गे तेन ततः क्रमात्। नीतः सर्वाधिकारित्वं सोऽन्यामेव स्थितिं व्यधात् ॥"

समरस्वामि देव-मन्दिर की जायदाद में पार्षद (हिस्सेदार ब्राह्मण) सहेल-नामक था जो विजयमल्ल का हितैषी (अन्तरङ्ग मित्र) होने से राजा के द्वेष का पात्र बन गया था। जब उसने दूनी पैदावार राज्य-कोष में दी तो "अर्थनायक" (Prefect of property) बना दिया गया और सरकार के हुजूर में रसाई पाकर वह धीरे धीरे "महत्तम" (मन्त्री) हो गया—(७।११०५-६)। —···और राजा को सङ्कट में डालता हुआ 'कायस्थ'···स्वार्थ-पण्डित सहेल 'महत्तम' जब राजकीय धन को उड़ा(खा)चुका तब डरते हुए दुर्व्यसन में उस राजा को प्रेरित करता हुआ।—(७।११६९-११७०)। उस समय सहेल 'महत्तम' ही नष्ट-भाग्य राजा का 'द्वार-पति', और 'कम्पने कार्यस्थ' स्टाइन के पाठानुसार 'कम्पने कायस्थ'—(सैन्याध्यक्ष), दोनों ही था (७।१३)। "अधिकारी (अध्यक्ष-कायस्थ) मारने के इच्छुक, घात (पाप) की ताक में लगे हुए, पर-धनापहारक, शठ, पूरे राक्षस होते हैं,—उनसे [राजा] इन प्रजाओं को बचाए" ऐसी इतिहासिनी नीति में सदा श्रद्धा रखते हुए उस राजा (उच्चल) ने [उक्त] श्लोक का पाठ करते हुए 'कायस्थों' का मूलोच्छेदन किया—(८।८६-८७)। सहेल इत्यादि बहुतेरे महत्तमों (उच्चतम कायस्थों, मन्त्रियों) को कार्य (अधिकार) से हटा-

कर कारागार में भङ्गा-सूत्र-मय वस्त्र पहरवाया—(८।९३)। इसके अनन्तर राजा ने पहले वाले सहेल इत्यादि 'महत्तमों' को हटाकर गौरक-नामक को सर्वाधिकार में "कायस्थ" (अर्थात् महामन्त्री) बनाया अथवा, गौरक-नामक 'कायस्थ' (विभाग-विशेष के अध्यक्ष) को 'सर्वाधिकार' में रक्खा (अर्थात् महामन्त्री बनाया)। वह (गौरक) विजयेश्वर मठ में [रहने वाले] किसी तपस्वी (ब्राह्मण) का सम्बन्धी था और जब राजा लोहर में ही था तब उसकी सेवा में रहकर उसका वल्लभ (प्रिय पात्र) बन चुका था। राजा के द्वारा पहले वाले कायस्थ-वर्ग को ठण्ढा कर दिए जाने पर क्रम से सर्वाधिकारी (महामन्त्री) के पद पर पहुँचाए गए उस गौरक ने और ही स्थिति कर दी—(७।११०३ और ८।५६०, ५६१, ५६२)।

यहाँ सहेल जो पहले वाले कायस्थ-वर्ग में मुख्य था और गौरक जो नई स्थिति लाने वाला सर्वाधिकारी कायस्थ हुआ, दोनों ही का, कायस्थ होने से पहले मठ-सम्पत्ति के हिस्सेदार ब्राह्मणों से जातीय सम्बन्ध होने के कारण, ब्राह्मण वर्ण में जन्म प्रमाणित होता है। अतः ये दोनों भी, ब्राह्मण होते हुए, पद के नाते ही 'कायस्थ' लिखे गए हैं, न कि किसी जाति के नाते। लोहर के राजवंश का मूल-पुरुष भरद्वाज-गोत्रोत्पन्न नर-नामक राजा दार्वाभिसार में राज्य करता था—(७।१२८२)—

"पूर्वं दार्वाभिसारेऽभूद् भारद्वाजो नरो नृपः"।

भरद्वाज-गोत्र से 'नर' राजा का ब्राह्मण-कुलोत्पन्न होना सिद्ध होता है। लोहर वाले सिंहराज की पुत्री दिद्दा (६।१५०, १७६-१७७; ७।१२८४) महाराज क्षेमगुप्त को व्याही थी। इसी महाराज क्षेम-गुप्त से भट्ट-फल्गुण ने भी अपनी कन्या चन्द्रलेखा का विवाह किया था, जिसके कारण से दिद्दा ने फल्गुण से मात्सर्य रखकर वैर बाँधा था। जैसा पहले कह चुके हैं, यह क्षेमगुप्त महाराज पारेविशोक वाले दिविर (कायस्थ) अभिनव के प्रपोत्र, मन्त्री सङ्ग्रामगुप्त के पौत्र और राजानक (ब्राह्मण-मन्त्री) एवम् महाराज पर्वगुप्त के पुत्र अर्थात् अभिनव[गुप्त], दिविर (कायस्थ) की चौथी पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे।

भरद्वाज-गोत्रीय ब्राह्मण-कुलोत्पन्न 'नर' राजा से चले हुए लोहर-राजवंश से आए हुए कश्मीर के महाराज सङ्ग्रामराज (१००३-१२२८ ई०) के साथ एक ओर तो ग्राम-दिविर (ग्रामकायस्थ-पटवारी) वंशज पुण्याकर के पुत्र-मन्त्रियों-चन्द्राकर, इत्यादि का वैवाहिक सम्बन्ध (तरङ्ग ७। श्लोक ५६) था और दूसरी ओर प्रतिग्रह के जल से आर्द्र-हस्त और अल्प-मन वाले प्रेम-नामक ब्राह्मण मठाधीश से था, जिससे इन महाराज ने अपनी लोठिका नाम पुत्री का विवाह किया था (७।१०, ११, १२,)। यह भी प्रतिग्रह लेने वाले ब्राह्मण प्रेम, कायस्थ-पुत्र मन्त्री चन्द्राकर और लोहर राजवंश, तीनों के ब्राह्मण वर्ण का प्रमाण है।

'द्वार-कार्यस्थ' काश्मीरिक महामात्य चण्पक प्रभु के (७।११७७ तथा तरङ्गों की समाप्ति-द्योतक पुष्पिकाओं, एवं स्टाइन साहब की भूमिका पृष्ठ ६-७ के अनुसार) पुत्र कह्लण अर्थात् प्रथम राजतरङ्गिणी के रचयिता, को द्वितीय राजतरङ्गिणी-कार जोनराज ने "द्विज" (ब्राह्मण) लिखा है। यदि ब्राह्मण से भिन्न जाति का नाम "कायस्थ" हाता तो कार्यस्थ (कायस्थ) चण्पक प्रभु का पुत्र कहलण कैसे 'द्विज' (ब्राह्मण) होता? जोनराज का प्रारम्भ से पाँचवाँ श्लोक यह है—''रस-मय्या गिरा वृद्धां नित्य-तारुण्यमापिपत्। अथ श्रीजयसिंहान्तं तत्कीर्ति कह्लण-द्विजः॥'

शिवरथ का नाम तरङ्ग ८ के इन तीन स्थलों में आया है—

(१) "शिवरात्र्युत्सवे श्लोकममुं शिवरथाभिधः। विद्वान् पठंस्तेन हठात् सर्वाध्यक्षो व्यधीयत ॥१११॥"—शिवरात्रि के उत्सव पर श्लोक ११० को [आशीर्वाद रूप से] पढ़ते हुए शिवरथ नामक विद्वान् को उन (महाराज उच्चलदेव) ने हठ-पूर्वक 'सर्वाध्यक्ष' बना दिया। उस ११० वें श्लोक का उत्तरार्ध यह है—"त्वं कायस्थ-कुटुम्बि-क्लृप्ति-सचिव-प्रायस्थ-पञ्चानली-लीढामुच्चलदेव निर्वृतिसुखस्थित्या पुरीं स्वां क्रियाः॥" अर्थात् 'हे उच्चलदेव, तुम अपनी राजधानी को—जो कायस्थों, कुटुम्बियों (कृषकों), क्लृप्तियों, सचिवों और प्रायस्थों की पाँच अग्नियों से चाटी जा चुकी है—शान्ति-सुख-पूर्ण करो।'

(२) "निःसंशयं हतं ज्ञात्वा सुज्जिं राजोपजीविनः। तत्र स्थितं

शिवरथं सर्वद्वेष्यमवन्धयन् ॥२१५६॥" अर्थात् 'राजा के उपजीवियों ने सुज्जि को सन्देह-रहित 'मारा गया' जानकर वहाँ खड़े हुए शिवरथ को जो सभी के द्वेष का पात्र [बन गया] था बँधवा दिया।'

(३) "तदन्तरं शिवरथो द्विजः प्रचुर-चाक्रिकः। कायस्थ-पाशः पाशेन गलं बद्ध्वा व्यपद्यत ॥२३८३॥"—'तब बड़ा तिकड़मी कायस्थाधम ब्राह्मण शिवरथ फाँसी से गला बाँधकर मर गया।

यहाँ शिवरथ नामक विद्वान् ब्राह्मण एक सर्वोपरि धार्मिक उत्सव के अवसर पर कायस्थों मन्त्रियों प्रायस्थों सभी को राजधानी जलाने वाली अग्नियाँ बताकर उनको शान्त करने का आशीर्वाद राजा को देता हुआ राजा के द्वारा सर्वाध्यक्ष (सर्वाधिकारी-कायस्थ) बना दिया जाता है और आगे चलकर वही विद्वान् ब्राह्मण सब किसी का द्वेष-पात्र और अत्यन्त तिकड़मी कायस्थाधम, होकर अपने गले में फाँसी लगा कर मर जाता है। कह्लण उसे एक ही साँस में 'ब्राह्मण' और 'पाजी कायस्थ' बताते हैं।

स्टाइन साहब ने अपने इण्डेक्स पृष्ठ ५१६ में ८।२३८३ पर इसे Brahman designated as 'Kayastha' ('कायस्थ-पदाभिहित ब्राह्मण) तथा ऐडेण्डा पृष्ठ ५४० में ८।२१५६ पर "शिवरथ ब्राह्मण कायस्थ" लिखकर, ऐडेण्डा पृष्ठ ५५४ में ८।१११ पर इतना और लिखा है। "टिप्पणी जोड़ो—'जयरथ-कृत तन्त्रालोक में शिवरथ का उल्लेख जयरथ के पितामह के भी पितामह के रूप में हुआ है'—देखो रिपोर्ट पृष्ठ १५२ (जिल्द २)।

अतः यह गर्हित ब्राह्मण कायस्थ शिवरथ "तन्त्रालोक" और "अलङ्कारसर्वस्व-विमर्शिनी" के प्रणेता राजानक जयरथ के वृद्ध-प्रपितामह शिवरथ सिद्ध होते हैं।

कायस्थों को और फिर विशेषतः कश्मीर के राजतरङ्गिणी कायस्थों को जो लोग ब्राह्मणों से सर्वथा पृथक् कोई जाति-विशेष समझ बैठे हैं, उनकी बुद्धि पर लगे हुए ताले को खोलने वाली कुञ्जी (चाभी) रूप इससे बढ़कर और कौन प्रमाण चाहिए।

"अथ तुङ्गादिभङ्गाय प्रायं ब्राह्मणमन्त्रिणः। परिहासपुरे विप्र-पारिषद्यानकारयन् ॥७।१३॥ ततः पलायिता विप्रा यस्तेषां मन्त्रदोऽभवत्। निगूढं राजकलशस्तद्वेश्म प्राविशन् भयात् ॥७।२०॥ विजिते राजकलशे समकार्या द्विजातयः। मन्त्रिणः श्रीधरसुताः सप्तागत्य व्यधुर्मृधम् ॥७।२२॥ मन्त्रिणो राजकलशा—पत्यान्यत्यन्तरङ्गताम्। लेभिरे क्ष्माभुजः पार्श्वे प्रशस्तकलशादयः ॥७।५७२॥ प्रशस्तकलश-स्यान्ते तद्-भ्रातृतनयः परम्। कायस्थः कनको नाम श्लाघ्यामकृत सम्पदम् ॥८।५७०॥ 'अर्थात् इसके अनन्तर तुङ्ग इत्यादि को गिराने के लिए ब्राह्मण-मन्त्रियों ने परिहासपुर में ब्राह्मण पारिषद्यों से प्रायोपवेश कराया। तब भागे हुए ब्राह्मण भय के कारण उस राजकलश (नामक ब्राह्मण-मन्त्री) के घर में जा घुसे, जो उनको सलाह देने वाला था।...राजकलश के जीत लिए जाने पर उसके समकार्य (सार्था) सात ब्राह्मण मन्त्रियों ने, जो सभी श्रीधर के पुत्र थे, आकर युद्ध किया।......मन्त्री राजकलश के सन्तान प्रशस्तकलश इत्यादि ने राजा के समीप में अति-अन्तरङ्गता प्राप्त कर ली...। [ब्राह्मण] प्रशस्तकलश का अन्त हो जाने के पीछे उसके भतीजे कनक नाम 'कायस्थ' ने प्रशंसनीय सम्पत्ति बना ली।

यहाँ कनक 'कायस्थ' था और उसके चाचा या ताऊ प्रशस्तकशल का पिता राजकलश उन ब्राह्मणमन्त्रियों में सरगना था जिन्होंने पारिषद्य-ब्राह्मणों से प्रायोपवेश कराया था। यों भी कश्मीर में कलशान्त नाम ब्राह्मणों के ही होते थे। ५।४२४-४२५ में युद्ध-वीर ब्राह्मण रक्क की चर्चा हुई है, जिसे महाराज ने मुख्य-मन्त्री बना दिया था। ६।३२४ में उसी के पुत्र देवकलश का वर्णन है। बिह्लण कवि-कृत "विक्रमाङ्कदेव-चरित (सर्ग १८ श्लोक ७०-७९) से ज्ञात होता है कि इनके पिता ज्येष्ठकलश वेदज्ञ और महाभाष्य के व्याख्याता थे और पितामह राज-कलश दानशील पराक्रमी और विद्वान् थे तथा प्रपितामह मुक्तिकलश चारों वेदों के विद्वान् और प्रसिद्ध अग्निहोत्री थे। इस कौशिक गोत्रीय ब्राह्मणवंश के पूर्वज वर्तमान उत्तरप्रदेश से महाराज गोपादित्य द्वारा ले जाए जाकर श्रीनगर से ६ मील पर स्थित जयवन (ज़ेवाँ) के समीप

'षोन्मुख' ग्राम में वसाए गए थे। बिह्लरण के पितामह और उक्त प्रायोपवेश कराने वाले ब्राह्मणमन्त्रियों में प्रधान राजकलश एक ही जान पड़ते हैं जिनके कई पुत्रों में प्रशस्तकलश रत्नकलश (७।५९९) और ज्येष्ठकलश भी थे और इस प्रकार से कनक 'कायस्थ' और विह्लरण-इष्टराम-ग्रानन्द सम्भवतः चचेरे भाई थे। विह्लरण तो महाराज कलश (१०६३-१०८९ ई०) और महाराज हर्ष (१०८९-११०१ ई०) के समकालिक थे और मन्त्री राजकलश महाराज सङ्ग्रामराज (१००३-१०२८ ई०) के समय में थे। वीच में महाराज ग्रनन्तदेव का समय (१०२८-१०६३ ई०) ग्राता है जव ज्येष्ठकलश और प्रशस्तकलश-कनक ग्रागे-पीछे रहे होंगे। कह्लरण ने ज्येष्ठकलश और मुक्तिकलश का वर्णन ग्रनैतिहासिक पुरुष होने से छोड़ दिया होगा और बिह्लरण ने राजकलश के मन्त्री होने का उल्लेख करना प्रायोपवेश कराने की तत्सँल्लग्न कु-ख्याति के कारण उचित न समझा होगा।

सर्वथा कनक 'कायस्थ' भी जाति से ब्राह्मण ही सिद्ध होता है। राजतर० १।१२५-१२६ पर स्टाइन की पादटिप्पणी से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण का पूर्वोक्त पर्याय 'भट्ट' कश्मीरी भाषा में 'वट्ट' हो जाता है। 'वट्ट' शब्दान्त कुछ ब्राह्मण-नाम—'विश्शावट्ट इत्यादि ब्राह्मण' (७।३३७, ६१७, ६२१, ६२९, ८९२), 'रय्यावट्ट और विजय दोनों ब्राह्मण' (७।१४८०), लोष्टावट्ट, नागवट्ट (८।६६४,११३५), इत्यादि—राजतरङ्गिणी में ग्राए हैं। इनमें से ग्रन्तिम के "कायस्थ-पुत्रोऽपि ···नागवट्टाख्यः" इस परिचय के ग्रनुसार नागवट्ट-नामक ब्राह्मण सेनापति का पिता "कायस्थ" था। ग्रतएव उस "कायस्थ" पिता की जाति "ब्राह्मण" ही सिद्ध होती है।

किम् बहुना ? स्टाइन ने ग्रपनी भूमिका के पृष्ठ १९ में लिखा है—

That Kalhana though probably drawn by descent and position towards the official class (Kayasthas) was by no means partial to the latter, is shown by many a hard hit he makes at the vices of the Kayasthas. The great mass of them was undoubtedly Brahman by caste,

corresponding to the present Karkun of Kashmir.

—कि कल्हण यद्यपि उत्पत्ति और स्थिति से राजकर्मचारियों (कायस्थों) के वर्ग की ओर आकृष्ट था तथापि उनका किसी प्रकार से पक्षपाती न था, जैसा उन कर्कश चोटों से प्रदर्शित होता है जो उसने कायस्थों के दोषों पर की हैं। इन (कायस्थों) की प्रचुर राशि निस्सन्देह जाति से ब्राह्मण थी जो कश्मीर के वर्तमान 'कारकुन' से मेल खाती है।

और कल्हण के पिता के विषय में वहीं पृष्ठ ७-८ में लिखा है—

"One of the chief officials of king Harsha" and "the great Kashmirian minister, the illustrious Lord Canpaka."

कि वह 'हर्ष-महाराज के मुख्य कर्मचारियों में से एक', और "काश्मीरिक महामात्य, श्रीचण्पक प्रभु" था।

महाराज उच्चल ने सहेल इत्यादि पहले वाले कायस्थ-वर्ग को कैसा दण्डित किया था और फिर गौरक ने 'कायस्थ' से 'महामन्त्री' बन कर स्थिति कैसे बदल कर और ही कर दी थी, इस का थोड़ा वर्णन पहले हो चुका है। उसी प्रकरण (तरङ्ग ८) के जिन श्लोकों में 'कायस्थ'-पदों से हटाए गए दुर्दशा-ग्रस्त लोगों की चेष्टाएँ वर्णित हुई हैं, उन में कुछ ये हैं—"कार्यभ्रष्टा मलक्लिन्न-क्षीणवस्त्रावगुण्ठनाः। सर्वार्थिनो व्यभाव्यन्त केऽप्यटन्तः प्रतिक्षपम् ॥९९॥ वृथा-वृद्धाः सुखप्राप्यं पाण्डित्यं भूर्जवत् परे। मत्वा बाला इवाचार्य-गृहे प्रारेभिरे श्रुतम् ॥१००॥ केऽप्युच्चैरट्टभिक्षाकाः सादरं स्तोत्रपाठिनः। कृतानुपाठाः स्वापत्यैः प्राह्ले लोकमहासयन् ॥१०१॥ नृपेण कार्यिणां दर्प-लिङ्गनाशे विपाटिते। अक्ष्णो-र्ज्ञाति-परिज्ञान-क्षमत्वं समजायत ॥१०५॥ भारत-स्तवराजादिस्तोत्रपाठमशिश्रियन्। ते दुर्गोत्तारिणी-विद्या-जपं चोदश्रु-लोचनाः ॥१०६॥"

कार्य (अधिकार) से भ्रष्ट हुए कुछ लोग मैले और क्षीण वस्त्रों में मुंह छिपाए सबसे सब कुछ मांगते हुए प्रति-रात्रि घूमते-फिरते देखे गए (९९)। दूसरे वृथा-वृद्ध लोगों ने पाण्डित्य को भोज-पत्र के तुल्य सुलभ समझकर बालकों के समान आचार्य के घर पर श्रुत (गुरुमुख से सुन कर

वेद का अध्ययन करना) प्रारम्भ कर दिया (१००)। कोई-कोई प्रातः-सन्ध्या के समय भिक्षाटन करते हुए ऊँचे स्वर और बड़े आदर-भाव से स्तोत्र-पाठ करते और अपने बच्चों के साथ दोहराते हुए, लोगों को हँसाते [फिरते] थे (१०१)। राजा (उच्चल) के द्वारा कार्यार्थों (अधिकारियों, कायस्थों) के दर्प की जड़ काट दी जाने पर उनकी आँखों में बन्धु-बान्धवों को पहचानने की क्षमता आ गई (लौट आई), अर्थात्कायस्थ-पदस्थ अवस्था की सारी रुखाई और बे-मुरव्वती लुप्त हो गई (१०५)। और उन ने आँखों में आँसू भरते हुए महाभारत के भीष्म-स्तव-राज इत्यादि स्तोत्रों के पाठ, और दुर्गति से पार करने वाली विद्या (दुर्गा-सप्तशती) के जप, का आश्रय लिया (१०६)।

"दण्ड्यानां दण्ड्यमानानां पुत्र-स्त्री-मित्र-बान्धवाः। राज्ञा विचार-शीलेन न तेनोपद्रुताः क्वचित् ॥११६॥" दण्डित किए जाते हुए दण्डनीय [कायस्थ] लोगों के पुत्र स्त्री मित्र और बन्धुओं पर उस विचारशील राजा ने कहीं कोई उपद्रव नहीं किया था (११६)।

यहाँ विचारणीय यह है कि राजकीय पदों से निकाल दिए जाने पर वृत्ति-रहित कायस्थों का झुकाव जिस दिशा में हुआ वह मार्ग ब्राह्मण-जाति से भिन्न और किसी जाति का नहीं हो सकता है। मुंह छिपा कर रात में ही नित्य भिक्षाटन करना, राजकीय पदों पर रह चुके ब्राह्मणों के लिए, लज्जा-जनकता और साथ ही साथ, आपत्कालीन स्वधर्म-मर्यादा-पालन का द्योतक है। और जैसा कहा गया है—

"प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं धनम्। तृतीये नार्जितं पुण्यं चतुर्थे किं करिष्यति ॥"

कि जिसने, ब्रह्मचर्य के बाल्यकाल में विद्योपार्जन नहीं किया, गृहस्थ होकर धनार्जन न किया, वानप्रस्थोचित वयस् में पुण्यार्जन नहीं किया, वह चतुर्थ (वृद्ध होने के) समय में क्या त्याग करेगा—इस नीतिवाक्य के विपरीत इन कायस्थ-पद-प्रेप्सु ब्राह्मणों ने बाल्य-काल में जिस वेद-विद्या का अर्जन नहीं किया, गृहस्थ होते हुए कायस्थ-पदस्थ होकर भी सर्व-स्व भोगों में ही नष्ट किया, न तो कुछ बचाया (जिससे आगे भी धर्म-

निर्वाह करते), और न तब पुण्य में ही लगाया, तो ऐसे वृथा-वृद्ध हुए ये बूढ़े तोते बाल्य-काल से अनभ्यस्त वेद का पाण्डित्य दुष्कर होते हुए भी पढ़ी-लिखी ब्राह्मण-जाति के नाते ही, समाज में स्ववर्णोचित स्थिति की प्राप्ति के उद्देश्य से, बालकों की तरह अब गुरु के यहाँ वेद पढ़ने चले। ब्राह्मणेतर के लिए ऐसी सनक इस अवस्था में सर्वथा व्यर्थ ही होती। बच्चों के साथ स्तोत्र-पाठ द्वारा भिक्षा मांगना ब्राह्मणों के लिए ही स्वाभाविक हो सकता है। स्तवराज का पाठ और दुर्गा-सप्तशती का जप स्वयं करने से दुर्गति (विपत्ति) दूर करने की धारणा भी ब्राह्मण-प्रकृति ही हो सकती है। "प्रभुता पाइ काइ मद नाहीं" के अनुसार ब्राह्मण जब 'कायस्थ' हो जाते थे तो, कुछ तो राजकाज की ईमानदारी के कारण और कुछ पद-मद के कारण भी, अपने भाई-बिरादरों से भी तोता-चश्मी करने लगते थे—सो अब उन्हीं भाइयों के मुख-प्रेक्षी होने के अतिरिक्त उन्हें अन्य गति ही न रह गई। 'कायस्थों' के प्रति कश्मीर के अन्य ब्राह्मणों की इस शिकायत का आभास राजतरङ्गिणी में अन्यत्र भी मिलता है, जिसके प्रति यहाँ यह चुभता हुआ उपालम्भ दिया गया है।

(६) क्षेमेन्द्र-वर्णित (कश्मीर के) कायस्थ

व्यासदास-क्षेमेन्द्र (काश्मीरिक महाराज अनन्तदेव—१०२८-१०६३ ई०—के समकालिक)-कृत "नर्म-माला" में दिए हुए "कायस्थ"-वर्णन का कुछ सङ्क्षेप इस निबन्ध के प्रारम्भ में ही दिया जा चुका है, जो उक्त पुस्तकों (कश्मीर ग्रन्थमाला, सङ्ख्या ४० "देशोपदेश" और "नर्ममाला") के सम्पादक पण्डित मधुसूदन कौल शास्त्री द्वारा लिखित भूमिका पर आधारित है। उसके पूर्व कुछ छटा हुआ विषय यहाँ दे देना उपयुक्त होगा—

"राज्य के कर्मचारियों और पदाधिकारियों में शासन-क्रम से "गृहकृत्याधिपति" "पारिपालक" और "नियोगी" तो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। अन्य कर्मचारी किसी न किसी प्रकार से इन्हीं के आश्रित होते हैं जो खजान्ची, जुडिशल रीडर, मार्ग-निरीक्षक अथवा दूत

का कार्य करते हैं। ये सभी "कायस्थ"........शैव-सम्प्रदाय......"

उक्त (देशोपदेश और नर्ममाला) दो पुस्तकों का प्रकाशक अन्वेषण-विभाग, कश्मीर-राज्य, श्रीनगर) है। और "लोकप्रकाश" (जिसका पूर्णतया क्षेमेन्द्रकृत होना कुछ सन्दिग्ध है) वेबर-सम्पादित "इण्डिशे स्टडीन" (१८६८ ई०) में, लीपज़िग् (जर्मनी) से प्रकाशित हुआ था। क्षेमेन्द्रकृत अन्य पुस्तकें निर्णयसागर प्रेस बम्बई की "काव्यमाला" ग्रन्थावलि में प्रकाशित हुई हैं।

उक्त नर्म-माला (१।१०८-११३) के विवरण से विदित होता है कि "कायस्थ" के सरकारी दौरे वाले सामान (camp luggage) के अन्तर्गत [दैनिक अग्निहोत्रादि के लिए] ताम्रकुण्ड, स्रुक्, स्रुव, तथा नक्षत्र-पत्रिका अथवा पञ्चाङ्ग, मन्त्र-पुस्तिका, पवित्र-सूत्रक (यज्ञोपवीत), इत्यादि वस्तुएं आवश्यक रूप से रहती हैं। इन वस्तुओं का रहना, तथा "कायस्थ" का 'कार्यदूत,' 'भट्ट-भागवत', 'आस्थान-भट्ट', अथवा 'अधिकरण-द्विज' इत्यादि रूपों में भी परिचित किया जाना, काश्मीरिक कायस्थों के जाति से निस्सन्देह ब्राह्मण होने के ही परिचायक हैं।

क्षेमेन्द्र ने "कायस्थ" शब्द का प्रयोग—

दशावतार-चरित (७।२८०; ८८२२; १०।१२; १०।१३), चतुर्वर्ग-सङ्ग्रह (२।१४), समय-मातृका (४।७०; ५।६३), कला-विलास (५।१, ७, ८, ९, १८, ३९, ४१, ४४, ४५), नर्म-माला (१।१, ६, २२, २८, ५६, १४८; २।७७, १४३; ३।५८) और लोकप्रकाश (पृष्ठ ३५०; और पृष्ठ ३७१ के ४। श्लोक २ और ३) में—कुल मिलाकर २८ वार किया है। "दिविर" शब्द—दर्प-दलन (२।५४), समय-मातृका (२।३७, ३८, ३९, ४०; ३।३३; ७।२१, ४५; ८।४३, १०८), देशोपदेश (८।५, ६), नर्म-माला (१।१५, १७, २६, ८३, १२८, १३०, १३८, १४१; २।२७-२८, जीवन-दिविर,—११७, ११९, १२०, १२१, १२२, १२३. १२४, १२९, १३१, १३९; ३।१, १००, ११२, ११४), और लोक-प्रकाश (पृष्ठ ३४०, ३४९, ३५०, ३७८, ३८०, ३८१, ३९५) के अतिरिक्त, कला-विलास के सर्ग ५ के श्लोक २, ३, ४, ११, १२, १७

और ४६ में भी आया है। लोकप्रकाश (पृष्ठ ३४६-३५०) में 'दिविर' 'कायस्थ' 'लिपिज्ञ' और 'गणक' पर्याय (एकार्थक) हैं। इसी प्रकार कला-विलास के सभी स्थलों में आया हुआ 'दिविर' शब्द 'कायस्थ' का पर्याय-मात्र है। और इसी प्रकार (नर्ममाला १।६, १४८ में) 'कायस्थ' शब्द का वही अर्थ है जो नर्ममाला—१।४; २।७, १६, २६, ३७, ४७, ५२, ६३, ८८, ८६, ६३, १००, ११२, ११५, ११७; ३।१, ६, २१, ४७, ६६, ८६, ८७, ८६, ६२, ६७, ११२, ११४ में क्रमशः 'नियोगी' का है। एतदतिरिक्त 'नियोगी' शब्द—दर्पदलन (२।४६), समय-मातृका (१।४६; ६।१३), कला-विलास (१।६०; ६।३०; ६।४०), और नर्ममाला (१।३५, ४२, ४५, ४६, ५१, १०४, ११६) में भी—तथा इसी नियोगी शब्द का कुछ परिवर्तित रूप—दर्पदलन (२।५१), कला-विलास (६।५२) और नर्ममाला (१।३२ और ६७) में मिलता है। यह 'नियोगी'............(२।५६) में 'अधिकारी' कहा गया है। 'अधिकारी' शब्द दशावतार-चरित (१०।२८), समय-मातृका (३।३०; ६।२७), नर्ममाला (१।८, ७४) और कुछ परिवर्तित रूप में कला-विलास (६।४०) और नर्ममाला (३।६७, ६८, ६६) में भी आया है।

नर्ममाला में "कायस्थों", अर्थात् राजकीय उच्चपदाधिकारियों अथवा सामान्य कर्मचारियों, के वाचक अन्य शब्द भी आए हैं। यथा—'सर्वाधिकारी' (१।८), 'गणना-पति' (१।६), जो लोकप्रकाश (पृष्ठ ३५०) में 'गणक' 'गणस्थल' अथवा 'संख्याधिपति', और तृतीया विभक्ति (लोकप्र॰ पृष्ठ ३६१) में 'ग-पत्या' लिखा गया है, 'गृहकृत्य-महत्तम' (१।३२; :।४६, ८८), 'परिपालक' (१।५५, ६१, ८०, ८५, ८८, ६६; ३।६०), 'लेखाधिकारी' (१।७४ इत्यादि...) अथवा 'लेखकोपाध्याय' (जैसे राजतरङ्गिणी ५।३६७ में 'पट्टोपाध्याय'), 'नियोगि-सहायक' (नायब-तहसीलदार), जो 'खवाशपति' और 'तूण-रक्षक' (२।६३, १००; ३।८७) भी कहा गया है (यही लोकप्रकाश पृष्ठ ३५० का 'खवाश-दिविर' है), 'धर्माधिकरणस्थ-दिविर' अथवा 'नगराचार्य' अथवा 'भोगी'

(२।११८) अथवा 'आस्थान-दिविर'-(२।१२०, १२१, १२७, १२६, १३६), और 'सन्धि-विग्रह-कायस्थ'-(२।१४३)। "कायस्थ" शब्द सामान्य रूप से उक्त सभी पदधारियों के लिए और विशेषतः 'सन्धि-विग्रह-मन्त्री' (२।१४३) तथा 'नियोगी' (१।१४८) के लिए प्रयुक्त हुआ देखा जाता हैं।

'दिविर' का सम्बन्ध पहले मठ-मन्दिरों की सम्पत्ति और धर्मादाय तथा अन्य विविध कार्यों से भी पाया गया है। इस विषय में फ़्लीट-सम्पादित "गुप्त अभिलेख" संख्या२७, पृष्ठ१२२ पङ्क्ति७, क्षेमेन्द्रकृत समय-मातृका (२।३७-४०; ३।३३; ८।१०८), देशोपदेश (८।५), नर्ममाला (१।८३, १२८; २।२७-२८, ११७, १२०-१२१), लोकप्रकाश पृष्ठ ३४९-३५०, और कल्हणकृत राजतरङ्गिणी (५।१६६ से १७६-१७७ तक तथा ७।४२-४३) द्रष्टव्य हैं। इसी प्रकार 'कायस्थ' शब्द मूलतः कदाचित् सरकारी ख़ज़ाने (राजकीय कोष) अथवा कर-विभाग के छोटे-बड़े अधिकारी और राज-लेखक के लिए प्रयुक्त होता था—इस पर दशावतार-चरित (१०।१२), दर्पदलन (२।५१), कलाविलास (५।७;—९।५२), के अतिरिक्त राजतरङ्गिणी (७।११६९; ८।४७३) विष्णुस्मृति ७।३, उदयसुन्दरी-कथा, (गायकवाड प्राच्य-ग्रन्थमाला संख्या ११—पृष्ठ ८, पङ्क्ति ७, १५, १९, २०, २८; पृष्ठ १०, प० १५, १६—२८, २९; पृष्ठ ११, प० १, २, २०-२३, २६) और याज्ञवल्क्यस्मृति (१।३३६) पर पूर्वोद्धृत टीकाएँ द्रष्टव्य हैं। पश्चात् "कायस्थ" सभी राजकीय अधिकारियों का बोधक हो गया। ऐसे ही 'नियोगी' का मुख्य कार्य पोत (लगान) और कर के आदाता का था। इसीलिए तो क्षेमेन्द्र और कल्हण दोनों ही इन सा शब्दों का प्रयोग सामान्यतः पर्याय-रूप से करते हुए भी कभी-कभी अर्थ-भेद से भी करते देखे जाते हैं। समयमातृका (१।४९), नर्ममाला (१।४३-४४; ३।९, ८६) के साथ नर्ममाला (३।१, ११२, ११४) और राजतरङ्गिणी ८।१३१, इत्यादि द्रष्टव्य हैं।

इन राज-पुरुषों के अतिरिक्त महामन्त्री (सर्वाधिकारी) भी

"कायस्थों" में परिगणित होता था यह नर्ममाला (१।६--८) और राजतरङ्गिणी (८।५६०), इत्यादि से सिद्ध है। इसी प्रकार प्रधान जज भी कायस्थ-वर्ग में आता था, यह कलाविलास(५।५) और राजतरङ्गिणी (७।१२२६), इत्यादि से प्रमाणित होता है। 'परिपालक' के पद या कार्य का देव-मन्दिरों की सम्पत्ति और धर्मादाय के विभाग से घना सम्बन्ध था (नर्ममाला—१।५२-५५, ५७, ६५, ६७-६९, ८५, ८८, ९०-९६)। यह "पारिपालक" भी नर्ममाला (१।५६) में प्रतिवोध्य "ग्रहकृत्य-महत्तम" के ही समान स्पष्ट रूप से "कायस्थ" कहा गया है।

क्षेमेन्द्र ने भी अपने किसी ग्रन्थ में कहीं "कायस्थ" अथवा इसके पर्यायवाची अन्य किसी शब्द का राजकीय पदाधिकारी अथवा कर्मचारी के अर्थ से अतिरिक्त कभी रोटी-बेटी-सम्बन्ध-सीमा-परक अथवा सामाजिक-स्थिति-सूचक जाति-विशेष के अर्थ में नहीं किया है। केवल एक स्थल (कलाविलास ५।३९) में मगधदेश से सम्बद्ध 'कायस्थ-कुल' शब्द का प्रयोग किया है, जहां एपिग्राफ़िया इण्डिका जिल्द ११ पृष्ठ २६६-२६७ के अनुसार ईसा की ७वीं शताब्दी में तिब्बतीय मन्त्री थोन्मि ने ब्राह्मण लि ब्यिन् से पढ़ना-लिखना सीखा था। यदि कोई ब्राह्मण पितृ-पितामहादि-परम्परा से "कायस्थ" (सरकारी नौकर) की वृत्ति करते थे तो ब्राह्मणों का वह कुल 'कायस्थ-कुल' कहलाता था। इसी का दूसरा नाम भारत के अन्य भागों में "करणिक" था। कश्मीर में तो "कायस्थ" केवल वैयक्तिक पद ही था और कायस्थों के कुल भी परस्पर-सङ्घटित न हो जायें इसलिए, कायस्थ से कायस्थ का विवाह-सम्बन्ध अनुसाहित करने की शासन-नीति कार्कोटक महाराज ललितादित्य मुक्तापीड के समय (८वीं शताब्दी के पूर्वार्ध) से आयोजित चली आती थी। तब ब्राह्मणों से पृथक् इसके "जाति-विशेष" होने की तो कल्पना भी कैसे की जा सकती है? बल्कि वह तो सर्वथा निराधार ही सिद्ध होती है। शिल्पी (कारीगर) लोगों की (याज्ञ०स्मृ०२। ३०) 'श्रेणियाँ' होती हैं परन्तु ब्राह्मणों में षट्-कुलादि 'कुल' हैं। 'कायस्थ' शब्द के साथ जुड़ा हुआ यह 'कुल' शब्द भी ब्राह्मण-वत् प्रतिष्ठा का ही द्योतक है।

कामन्दकीय-नीतिसार की जयमङ्गला टीका से पूर्वोद्धृत—"तथा हि—कुलशतमप्रतिग्राहकाणाम् इति लोकप्रवाद:"—इस वाक्य में आया हुआ 'कुल' शब्द भी इसी दृष्टि से अप्रतिग्राहक ब्राह्मणों के १०० 'कुलों' के लिए प्रयुक्त हुआ है। और 'कुलीन'-प्रथा भी केवल ब्राह्मणों और कायस्थों तक सीमित रही। "श्रीवास्तव्य-कुल-प्रकाशमणि" (शार्ङ्गधरदीपिका, आढमल्ल श्रीवास्तव्य-कृत), "श्रीवास्तव्य-कुल-प्रकाशक-वैद्य-सुदर्शन-विरचित। भिषजप्रिया" (हिन्दी हस्तलिखित ग्रन्थ), "कायस्थेन प्रथित-कुल-शीलोज्ज्वलधिया" (एपि० इ० १।१४६।३१), "धीरकुलस्य धीमान् हारुक-नामा·····लिपिकर-कुल····सुरगुरुरिव भूमौ भूपतीनां क्रियार्हः" (एपि० इ० जिल्द ५, परिशिष्ट २४७, श्लोक १६-१७ 'श्रीवास्तव्य-प्रशस्ति), "अतिनिर्मलकुलजन्मा···कायस्थो नागदत्त इति" (कावेल-सङ्गृहीत कोलब्रुक के निबन्ध जिल्द २ पृष्ठ २५४,श्लोक १९-२०) "अति उज्ज्वल कायस्थ-कुल"—"कायस्थकुलशेखर-पञ्चोली भागचन्द-सुत" (हिन्दी ह० लि० पु० रिपोर्ट), "नवलसिंह कायस्थ-कुल श्रीवास्तव्य सनाम" (हिन्दी···रिपोर्ट),"श्रीवास्तव कायस्थ सुचि 'सुकुल' कटेरावार। नवलसिंह ..." (वही), "कुल को नवलसिंह नाम·····जाति में प्रधान" (वही), "काइथ-कुल श्रीवास्तव उत्तम उत्तमचन्द" (वही), "कायस्थ-कुल-कल्पतरु" (वही), "श्रीवास्तव्य-कुलोद्भूत-कायस्थ" (एपि० इ० ४।१०१।२७-२८; ४।१०४।२६-२७), "कायस्थ-कुल-भूषण" (एपि इ० ३।२२४।२७) "दिविर-कुल-जेन" (एपि० इ० १।६५।१२), "कायस्थ-कुलावतंस" (मथुरादास-कायस्थ-कृत "वृषभानुजा नाटिका"), इत्यादि में ब्राह्मणवत् प्रतिष्ठित 'कायस्थकुल' का उल्लेख मिलता है।

अत: क्षेमेन्द्र के अनुसार भी "कायस्थ" कोई पृथक् जाति न होकर 'ब्राह्मणों' के ही कुल-विशेष अथवा शाखा-विशेष का नाम सिद्ध होता है।

(७) काश्मीरिक मङ्खक-बिह्लणादि-वर्णित कायस्थ

सन्धिविग्रह-कायस्थ अथवा राजलेखक ब्राह्मण होना चाहिए इस सम्बन्ध में जो प्राचीन ग्रन्थों के नियम मिलते हैं उनके अनुसार मङ्खक (राजतरङ्गिणी ८।३३५४), उसका भ्राता अलङ्कार (श्रीकण्ठचरित

३।६२) जो पहले राजकोष का अधीक्षक (राजतर० ८।२४२३) था, जह्लण (श्रीकण्ठचरित २५।७५), इत्यादि, जो इस पद पर थे और जो 'नियोगी' (अर्थात् "कायस्थ") भी लिखे गए हैं, जाति से ब्राह्मण थे।

ज्येष्ठकलश और नागादेवी के पुत्र एवञ्च इष्टराम और आनन्द के मंझले भाई बिह्लण का उल्लेख पहले हो चुका है। राजतरङ्गिणी (७।९३७) में इनका वर्णन महाराज हर्ष के शासन-काल (१०८९-११०१ ई०) में आया है। यह जन्मत: काश्मीरिक होते हुए भी कर्णाट देश के राजा पर्माडि (अर्थात् चालुक्य विक्रमादित्य-त्रिभुवनमल्ल, कल्याण के १०७६-११२७ ई० में शासक) के विद्यापति (अर्थात् प्रधान पण्डित) थे। (राजतर० ७।९३५-९३७) तथा उस पर स्टाइन का नोट और बिह्लण-रचित "विक्रमाङ्कदेव-चरित" सर्ग १८ श्लोक ७० से ८५ पर्यन्त द्रष्टव्य हैं)

यद्यपि इनके पितामह राजकलश का ब्राह्मण-मन्त्रियों में रहना राजतरङ्गिणी से प्रतीत होता है, तथापि इन ने अपने काव्य में उनका परिचय इतना ही दिया है कि वे "दानशील पराक्रमी और विद्वान् थे, जिनके सार्वजनीन धर्म-कार्यों में अङ्गूरों के बाग, व्याख्या-स्थान, प्रपाएँ (प्याऊ, पौंसले), और कूप, मुख्य थे।" इनके प्रपितामह मुक्ति-कलश का 'चारों वेदों के विद्वान् और अग्निहोत्री" होने, तथा पिता ज्येष्ठकलश का 'वेदज्ञ और महाभाष्य-व्याख्याता' होने, के नाते इनकी दृष्टि में जैसा ब्राह्मणोचित महत्त्व था, उसकी अपेक्षा पितामह राज-कलश का मन्त्री अर्थात कायस्थ रूप से राजाश्रित होने में लाघव होता था और फिर मन्त्री भी कैसे ? जो पारिषद्य ब्राह्मणों को 'प्रायोप-वेश करने के लिए उकसाने' की निन्दा के पात्र रहे हों, अत: अपने पूर्वज के विषय में कायस्थ-वृत्ति का उल्लेख नहीं किया, प्रत्युत महाराज अनन्तदेव (१०२८-१०६३) की महारानी सुभटा पर वक्ष्यमाण श्लोक (१८।४२) लिखते हुए इन्होंने भी "कायस्थों" का वर्णन कह्लण की-सी दृष्टि से ही किया है—"नो कायस्थै: कुटिल-लिपिभिर्नो विटै-श्चाटुदक्षैर्न प्रत्यक्ष-स्तवन-पटुभि-र्लुण्ठिता गायनैश्च । देवागार-द्विज-

गुरु-गृहाण्येव यत्सङ्गृहीता याता लक्ष्मी-र्निजचपलता-दोष-शुद्ध्यर्थिनीव ॥"
अर्थात् जिस (महारानी सुभटा) की सङ्ग्रह की हुई लक्ष्मी न तो "कुटिल लेख लिखने वाले कायस्थों", न चापलूसी करने में चण्ट विटों, और न सामने प्रशंसा करने में चतुर गवैयों से लूटी जा सकी, प्रत्युत मानों अपने चञ्चल होने के दोष की प्रक्षालनेच्छु (प्रायश्चित्तेच्छु) होती हुई देव-मन्दिरों, पात्र-ब्राह्मणों और गुरुओं के घरों ही गई ।

ऐसा लगता है कि कल्हण और बिल्हण तथा क्षेमेन्द्र सब के समय में शासन-सूत्र कुछ ऐसा ही दूषित हो गया था जैसा इधर के हमारे वर्तमान समय में हो चुका है कि प्रजा के गाढ़े पसीने का पैसा बढ़े-चढ़े करों इत्यादि के रूप में वसूल करके सरकार जिन अधिकारियों या कर्मचारियों के हाथ में प्रजा-हितार्थ सदुपयोग करने के लिए देती है, मन्त्रियों से लेकर छोटे नौकरों तक सभी "अन्यायेनार्थ-सञ्चयान्" के पापभागी होकर उसका ६० प्रतिशत से ५० प्रतिशत तक यथाशक्ति स्व-स्व स्वार्थ-साधनाग्नि में स्वाहा कर देते हैं और प्रजा के पल्ले प्रायः पासँग-भर ही पड़ने पाता है, बल्कि उसके दुःख की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। एक्साइज़ इत्यादि महकमों में तो विरला ही निकलेगा जो उत्कोच (रिश्वत) के महाभ्रष्टाचार का शिकार न हो। सभी राजकीय विभाग अतिदूषित हैं। और उस पर तुर्रा यह कि जिन को इस भ्रष्टाचार की रोक-थाम के लिए नियत किया जाता है, उनकी नीयत पहले ही से अनियत होती है। रक्षक सब भक्षक हो रहे हैं। कोई पुरसां-हाल नहीं। शिक्षण-संस्थाएँ तक भी इस भ्रष्टाचार का दुर्दम्य अखाड़ा बन चुकी हैं। धर्म-नीति की दुहाई देने और शासन से सुधार की पुकार के अलावा कल्हण, बिल्हण, इत्यादि भी क्या करते—"दर्दे-दिल किस से कहें कोई भी ग़मख्वार नहीं। मिला इस जिन्स का दुनिया में खरीदार नहीं ॥"

कल्हण-बिल्हण-क्षेमेन्द्र वाले ही "कायस्थ", ये वर्तमान ऊँचे मन्त्रियों से लेकर क्षुद्र क्लर्क तक शासन-सत्ता-धारी आज भी हमारे समाज में मौजूद हैं जिनके विरुद्ध प्रजा 'त्राहि-त्राहि' बोल रही है। मुसल्मानी ज़माने

से ब्रिटिश् गवर्नमेण्ट तक की पुरानी 'कायस्थ जाति' के खिलाफ़ बुग़्ज़े-लिल्लाही रखते हुए जो लोग आए-दिन ज़हर उगलते रहते हैं वे ही अधिकांश इस 'नवीन-कायस्थ-समुदाय'-गत महाभ्रष्टाचार के ज़िम्मेदार हैं। सर्वत्र और सर्वतः सर्वथा कुचल दिए जाने पर अब पुराने कायस्थों के सामने तो अपने प्राचीन प्रोज्झित-कैतव ब्राह्मण-धर्म पर जी-जान से लौट आने और सन्तोष-पूर्वक क्रमशः परमार्थ-सँल्लग्न होते जाने के अतिरिक्त और मार्ग ही नहीं रह गया है।

खुश न हों दौलते-दुनिया से ज़माने वाले।
रोएँगे सूरते-फ़व्वारः खज़ाने वाले॥

(८) काश्मीरिक सोमदेव-रचित "कथासरित्सागर" में चित्रगुप्त और कायस्थों के वर्णनों पर विचार करने से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि ब्राह्मणों से अतिरिक्त कोई 'कायस्थ' नाम की जाति नहीं थी और चित्र-गुप्त केवल देव-कायस्थ हैं, न कि मर्त्य कायस्थों के रक्त-सम्बन्धी पूर्वज।

(९) महाराज रणजीतसिंह के समय के धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थ "विवादार्णवसेतु" (श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, संवत् १९५४ संस्करण) पृष्ठ ९३-९४ में "अथ व्यवहार-दर्शनम्" (अब मुकदमों के इजलास अर्थात् अदालत का प्रकरण-प्रारम्भ होता है) इस शीर्षक के आगे—

वृहस्पतिः—"विवादे पृच्छति प्रश्नं प्रतिपन्नं तथैव च। प्रिय-पूर्वं प्राग् वदति प्राड् विवाकस्ततः स्मृतः॥" कात्यायन :—"व्यवहाराश्रितं प्रश्न पृच्छति प्राडिति स्थितिः। विवेचयति यस्तस्मिन् प्राड्-विवाक इति स्मृतः॥" इति। अर्थिनं प्रतिभाषते कीदृशी प्रत्यर्थिनं प्रति तव वाक् कीदृगुत्तरम् इति पृच्छतीति प्राड्। श्रुत्वा च युक्तायुक्तत्वेन जय-पराजयौ विविनक्ति वा इति विवाकः। प्राट् चासौ विवाकश्चेति प्राड्-विवाकः। कात्यायन :—"स-प्राड्-विवाकः सामात्यः स-ब्राह्मण-पुरोहितः। स्वयं स राजा तनुयात् तेषां जयपराजयौ॥ यदा कार्य-वशाद् राजा न पश्येत् कार्य-निर्णयम्। तदा नियुञ्ज्याद् विद्वांसं ब्राह्मणं वेदपारगम्॥"

अर्थात् वृहस्पति का वचन है—[सरकारी वकील] 'प्राड्विवाक' इस लिए कहलाया कि अर्थी (मुद्दई) और प्रत्यर्थी (मुद्दाअ़लैह) के विवाद

में वह प्रश्न (दावा) पूछता है और उसे समझकर प्रियपूर्वक (मधुरता से) पहले बोलता है। कात्यायन का वचन है—मुक़दमा-सम्बन्धी प्रश्न(दावे) को पूछता है इससे 'प्राड्' और उस पर जो विवेचन (तनक़ीह) करता है इससे प्राड्-विवाक' कहाया।

[इन वचनों की व्याख्या विवादार्णवसेतु में यों की गई है—]

मुद्दई से कहता है कि मुद्दाअलैह के प्रति तुम्हारी क्या बात (शिकायत, दावा) है, 'क्या उत्तर है' यह [मुद्दाअलैह से] पूछता है—इसलिए 'प्राड्' कहा गया। और [दोनों पक्षों का कथन सुनकर] युक्त और अयुक्त की दृष्टि से जीत और हार का विवेचन करता है—इससे विवाक कहा गया। 'प्राड्' (पूछने वाला) और साथ ही साथ 'विवाकः' विवेचन करके निर्णय देने वाला [होने से] 'प्राड्-विवाक' कहाया। कात्यायन का वचन है—प्राड्-विवाक के सहित, अमात्यों के सहित और ब्राह्मण जज तथा पुरोहित के सहित वह राजा स्वयं ही उनकी जीत-हार का विस्तृत विचार करे। [परन्तु] जब राजा कार्य-भार के कारण मुक़दमे के फैसले की देख-भाल आप न कर सके तब वेद-पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण को नियुक्त करे।

इतनी भूमिका के पश्चात्—पृष्ठ ६४ में मनु० (८।२०) के नाम से "जातिमात्रोपजीवी वा कायस्थो ब्राह्मण-ब्रुवः। धर्म-प्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथञ्चन ॥"—यह श्लोक लिखकर गद्यव्याख्या—"ब्राह्मणजाति-मात्रं यस्य विद्यते न तु ब्राह्मणवदनुष्ठानं वणिगादिवत् साक्ष्यादिद्वारेण स्फुट-न्याय-निरूपणे, जातिरपि वा यस्य, स वरमुक्तयोग्यब्राह्मणाभावे क्वचित् कार्यदर्शने नृपते-र्भवति, न तु धार्मिकोऽपि व्यवहारज्ञोऽपि शूद्रः। ब्राह्मणो धर्मप्रवक्ता इति विधानादेव शूद्र-निवृत्ति-सिद्धौ 'न तु शूद्र' इति शूद्र-निषेधो योग्यब्राह्मणाभावे क्षत्रिय-वैश्ययोरनुज्ञानार्थः। अतएव कात्या-यनः—यदि विप्रो न विद्वान् स्यात् क्षत्रियं तत्र योजयेत्। वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् ॥"—इन शब्दों में दी गई है।

मनुस्मृति (८।२०) में जहाँ "कामं स्यात्" (अर्थात् 'भले ही हों') पाठ है, वहाँ "कायस्थो" पाठ स्वीकार करके महाराज रणजीतसिंह के दरबारी

पण्डितों ने अपने समय का व्यावहारिक परिचय दिया है। मनु० के श्लोक का अर्थ यह है—राजा का 'धर्म-प्रवक्ता' जज, शाब्दिकानुवाद 'क़ानून-गो' भले ही केवल [ब्राह्मण] जाति-मात्र का अवलम्बी अथवा ब्राह्मण-ब्रुव हो, पर शूद्र तो किसी प्रकार से (कदापि) न होना चाहिए। मनु के इस वचन का विवादार्णवसेतु में जो पाठ और उसकी व्याख्या है उसका अर्थ यह होता है—राजा का धर्म-प्रवक्ता कहीं मुक़दमों के फैसले में उक्त 'योग्यब्राह्मण' के अभाव में भले ही कायस्थ हो जो जातिमात्र का ब्राह्मण होता है परन्तु जिसमें ब्राह्मणों के समान अनुष्ठान (अध्यापनादि कर्म) नहीं पाया जाता है, बल्कि साक्षी इत्यादि के द्वारा स्पष्ट-न्याय-निरूपण में वह वणिक् इत्यादि के ही समान है, अथवा जिसकी ब्राह्मणजाति भी कहने भर की है। परन्तु शूद्र चाहे धार्मिक भी हो, और व्यवहारज्ञ (अ़दालती मामलों का विशेषज्ञ) भी हो, तो भी नहीं रक्खा जाना चाहिए। ब्राह्मण धर्म-प्रवक्ता होना चाहिए ऐसा विधान (नियम) करने से ही शूद्र का वर्जित होना सिद्ध है, फिर भी "शूद्र तो कभी न होना चाहिए" इन शब्दों में खोलकर शूद्र का निषेध करने का प्रयोजन यह है कि योग्य ब्राह्मण न मिले तो क्षत्रिय और वैश्य [को रखने] की अनुज्ञा है। इसीलिए कात्यायन का वचन है कि यदि ब्राह्मण विद्वान् न हो तो वहाँ धर्मशास्त्रज्ञ क्षत्रिय अथवा वैश्य को रख ले [परन्तु] शूद्र को यत्न-पूर्वक वर्जित करे।

आनन्दाश्रम (पूना) से प्रकाशित "स्मृतीनां समुच्चयः" के अन्तर्गत "वेदव्यासस्मृति" अध्याय ४ श्लोक ४३ और ४४ (पृष्ठ ३६९) में 'जातिमात्रोपजीवी' 'समब्राह्मण' (Caste Brahmana at par) और ब्राह्मण-ब्रुव' (nominal or so-called Brahmana) के पृथक्-पृथक् ये लक्षण दिए गए हैं—"ब्रह्मबीज-समुत्पन्नो मन्त्र-संस्कार वर्जितः। जातिमात्रोपजीवी च स भवेद् ब्राह्मणः समः ॥४३।' ब्राह्मण-जातिमात्र का आश्रय पकड़ने वाला 'सम-ब्राह्मण' वह है जो ब्रह्मबीज (अर्थात् ब्राह्मण माता-पिता) से सम्यक् उत्पन्न तो हुआ हो, परन्तु द्विजत्वा-पादक मन्त्र (गायत्री, इत्यादि वेदमन्त्र) और संस्कारों से रहित हो।

हेमाद्रिकृत "चतुर्वर्गचिन्तामणि" के दानखण्ड अध्याय ३ पृष्ठ ३७ में इस श्लोक का चतुर्थचरण "भवेदब्राह्मणः स तु" है। वहाँ "अ-ब्राह्मण" का यह (६ प्रकार का) लक्षण है—जो जन्ममात्र से ब्राह्मण होता हुआ भी, राजा, ग्राम या नगर की नौकरी में हो, अथवा क्रय-विक्रय (खरीदो-फ़रोख्त) करता हो अथवा बहुसङ्ख्यकों वा ग्राम की याजनवृत्ति करता हो—"अब्राह्मणास्तु षट् प्रोक्ता ऋषिः शातातपोऽब्रवीत्। आद्यो राजभृतस्तेषां द्वितीयः क्रय-विक्रयी॥ तृतीयो बहुयाज्यः स्याच्चतुर्थो ग्राम-याजकः। पञ्चमस्तु भृतस्तेषां ग्रामस्य नगरस्य वा॥" और व्यासस्मृति के उक्त स्थल में 'ब्राह्मण-ब्रुव' का लक्षण यह है—

"गर्भाधानादिभिर्मन्त्रैर्वेदोपनयनेन च। नाध्यापयति नाधीते स भवेद् ब्राह्मणब्रुवः॥४४॥"—जो गर्भाधानादि-संस्कार-मन्त्रों तथा वेदारम्भ-उपनयन से [रहित होता हुआ] न तो [वेद का] अध्यापन करता है न अध्ययन, वह 'ब्राह्मण-ब्रुव' होता है।

इन दोनों लक्षण-श्लोकों (४३-४४) के पूर्व श्लोक ४२ में विविध पात्र को दान देने का फल-भेद यों दिखाया गया है—"सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मण-ब्रुवे। सहस्रगुणमाचार्ये अनन्तं वेदपारगे॥४५॥" 'अब्राह्मण' को दिया हुआ दान सम फल देता है। 'ब्राह्मण-ब्रुव' को दिया हुआ दो-गुना, आचार्य को दिया हुआ हज़ार-गुना, और वेद-पारङ्गत ब्राह्मण को दिया हुआ दान अनन्त फल देता है।

मनुस्मृति ७।८५ में इसी श्लोक के तृतीय पाद का पाठ 'सहस्रगुणमाचार्ये' के स्थान पर "प्राधीते शतसाहस्रम्" ऐसा मिलता है, जिसका अर्थ—"प्रकृष्ट अध्ययन वाले अर्थात् बहुश्रुत विद्वान् ब्राह्मण को दिया हुआ लाख-गुना फल देता है" होगा।

यों उत्तम वैदिक ब्राह्मणकी अपेक्षा से 'जातिमात्र के ब्राह्मण' और 'ब्राह्मण-ब्रुव' का समाज में क्या स्थान था यह स्पष्ट हो जाता है।

विवादार्णवसेतु के उक्त उद्धरणों से विदित हो जाएगा कि "कायस्थ" १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक अध्यापनादि षट्कर्मों से रहित जाति-मात्र के ब्राह्मण रह गये थे और ब्राह्मण-ब्रुवों में परिगणित होने लगे थे।

(१०)

इस से भी लग-भग दो शताब्दी पुराने दो हिन्दी वार्ता-ग्रन्थ "चौरासी (८४) वैष्णव की वार्ता" और "दो सौ बावन (२५२) वैष्णव की वार्ता" श्रीवल्लभाचार्य के सम्प्रदाय में अति-प्रसिद्ध हैं। इन में वर्णित विविध कायस्थों का विस्तृत परिचय हम "उषा" (दिल्ली) में दे चुके हैं। उनमें से एक सज्जन "भट्टनागरा" कायस्थ लिखे गए हैं और एक अन्य सज्जन 'व्यासासन से श्रीमद्भागवत के व्याख्याता' के रूप में परिचित कराए गए हैं। इन दोनों से पता चलता है कि कायस्थों का प्रायः तीन शताब्दी पहले के भारतीय समाज और विशेषतः धार्मिक वैष्णव सम्प्रदाय में ब्राह्मणोचित आदरणीय स्थान ही सर्वमान्य रूप से स्वीकृत था, क्योंकि 'भट्ट' शब्द 'ब्राह्मण' का ही पर्याय है, और भागवत (महा-पुराण) का व्यासासन ब्राह्मणत्व अथवा ब्रह्मासन का ही परिचायक रहता आया है जैसा बलराम-सूत वाले, श्रीमद्भागवत से ही उद्धृत, प्रसङ्ग में हम दिखा चुके हैं।

उक्त "८४ वैष्णव की वार्ता" (वैष्णव सङ्ख्या ६१ के प्रसङ्ग २ —डाकोर संस्करण पृष्ठ २६७-२७१) में रूप और सनातन गोस्वामियो के विषय में, जो गौराङ्ग (चैतन्य) महाप्रभु से दीक्षित होने के पूर्व मुसल्मान शासक के उच्च कर्मचारी थे और पीछे उन के शिष्य हो कर मथुरा-वृन्दावन में आ कर रहे थे, यह वर्णन मिलता है—

"तब रूप-सनातन ने कृष्णदास के ऊपर खीज के कह्यो, जो क्यों रे शूद्र तू कौन जो इन ब्राह्मणन को मारे। तब कृष्णदास ने कही जो हू शूद्र हों परि तुम हूं तौ 'अग्निहोत्री' नाहीं, तुम हू तो 'कायस्थ' हो। तब सनातन ने कह्यो जो यह बात पात्साह सुने गौ, तौ कहा जवाब देयगौ। तव कृष्णदास ने कह्यो जो हों तो नीके जवाब देउंगौ परि तुम को जुवाब देत में दुःख होय गौ, और तुमको जवाब आवेगौ जो तुम 'कायस्थ' होय कें इन ब्राह्मणन सों दंडौत करावत हौ। तव रूप सनातन तौ चुप ह्वे रहै, और बङ्गालीन सों कह्यो जो तुम जानौ ये जानों।"

रूप और सनातन संस्कृत के उच्चकोटि के बङ्गाली ब्राह्मण विद्वान् और बहु-संख्यक संस्कृत ग्रन्थों के रचयिता थे। उक्त वार्ता में ये केवल राजकीय उच्च-पदस्थ रह चुकने के नाते और अन्य ब्राह्मणों के समान याजनाध्यापनप्रतिग्रह-वृत्ति न करने के कारण ही "कायस्थ" कहे गए हैं और अतएव वे 'अग्निहोत्री' वाली, अर्थात् याजक-ब्राह्मणोचित, प्रतिष्ठा के अ-पात्र बताए गए हैं। परन्तु वस्तुतः 'अग्निहोत्री' (याज्ञिक) और 'कायस्थ' दोनों में एक-सा ही विशुद्ध ब्राह्मण रक्त होते हुए भी अन्तर केवल वैदिक ब्राह्मण (अर्थात् पूज्य) और लौकिक ब्राह्मण (पूजक) होने भर का ही था। कश्मीर और पञ्जाव के समान, मथुरा-वृन्दावन के आस-पास के प्रदेश में ही नहीं, वल्कि सुदूर दक्षिण इत्यादि प्रदेशों में भी कायस्थ के ब्राह्मण होने में, तब तक, कोई सन्देह नहीं किया जाता था। यही कारण है जिस से चैतन्य महाप्रभु के शिष्य ६ प्रमुख गोस्वामियों में एक कृष्णदास 'कायस्थ' भी थे, जो उक्त शूद्र कृष्णदास से भिन्न थे, तथा इसी प्रकार असम-प्रदेश में वैष्णवधर्म के प्रसिद्ध प्रचारक आचार्य शङ्करदेव भी 'कायस्थ' थे। पहले के कायस्थों के भी ब्राह्मणों के ही समान दान पाने तथा याजन और अध्यापन करने के प्रमाण आगे दिए जाएंगे।

बङ्ला और हिन्दी के विश्वकोशादि ग्रन्थों में जो वर्णन रूपगोस्वामी सनातनगोस्वामी और जीवगोस्वामी का मिलता है, उस से स्पष्ट है कि ये लोग जाति से ब्राह्मण ही थे, और इन के ज्ञाति लोग अब तक विद्यमान हैं। बङ्गाल में तो इस समय तक "कायस्थ" नाम की अन्य ब्राह्मणों से पृथक् एक जाति बन चुकी थी, परन्तु हमारे इधर वाले देश में "कायस्थ" शव्द अब तक 'राजकर्मचारी' के अर्थ में प्रयुक्त होता था, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार से कि "मूर्ख-शतक" श्लोक ९ के बङ्ला अनुवाद में उस के अनुवादक और गौडीय गौराङ्ग-वैष्णव सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थों के प्रणेता और प्रकाशक हमारे सम-सामयिक श्रीश्रीपाद हरिदास गोस्वामिप्रभु ने भी स्वीकार किया है—श्लोक ९ —"लुब्धे भूभुजि लाभार्थी न्यायार्थी दुष्टशास्तरि। कायस्थे स्नेह-

बद्धाशः क्रूरे मन्त्रिणि निर्भयः ॥" "ए स्थले 'कायस्थ' बलिते राज-कर्मचारी बुझाय, विशेषतः याहारा खाजाना आदाय करिया थाके। इहारा प्रजादेर उपर अतिरिक्त उत्पीडन करित एवं विशेष अत्याचारी छिल। अत एव यिनि कायस्थेर स्नेहेर उपर निर्भर करिया कोन आशा हृदय पोषण करिया थाकेन, तिनि मूर्ख बलिया गण्य हन। राज्येर मन्त्री क्रूर-प्रकृति हइया सत्त्वेओ ये लोक निर्भये विचरण करे, से मूर्ख ॥"

और यद्यपि कायस्थों (राजकर्मचारियों) की अधिकांश जातियां (वालभ, गौड, माथुर, नैगम, सकसेन, श्रीवास्तव्य, इत्यादि) अब तक बन चुकी थीं, तथापि ब्राह्मणों के जो वर्ग-विशेष वंशपरम्परा से राजकर्म-चारी की ही जीविका पर इस काल में भी आरूढ हो जाते थे वे भी कायस्थों की एक जाति-विशेष में परिणत हो जाते थे। जैसे नागरों में के राज-कर्मचारी नागरभट्ट, मुसलमानी शासनकाल में 'भट्टनागर' या "भटनागर' कायस्थ बन गए, अथवा सूर्य-पूजक (सौर) ब्राह्मण सूर्यद्विज नाम से प्रसिद्ध होकर इस वृत्ति-विशेष के अवलम्बन से 'सूर्यद्विज' कायस्थ, और मुसलमानी काल में 'सूरजध्वज' या 'सूरजवज' कायस्थ, कहलाए।

ऐसे कायस्थ-पेशा जाति-ब्राह्मण-वंश याजक ब्राह्मणों से छोटे समझे जाते थे। और अत एव कायस्थ[ब्राह्मण] का अग्निहोत्री [ब्राह्मण] को प्रणाम करना तो लोकरीति के अनुकूल था परन्तु कायस्थ [ब्राह्मण] का अग्निहोत्री [ब्राह्मण] से पैर पुजवाना विपरीत और गर्हणीय समझा जाता था। इसी विचार को उपस्थित करके कृष्णदास ने रूप-सनातन गोस्वामियों को मौन कर दिया था, क्योंकि ये दोनों भाई पहले उच्च राजकर्मचारी के अर्थ में 'कायस्थ' थे और सम्भवतः यह वृत्ति इन के पितृ-पितामह से पारम्परिक बन चुकी थी। तभी तो इन ने जाति से ब्राह्मण होते हुए भी अपने लिए, "नीच जाति, नीच सङ्गे करि नीच काज।" "नीच जाति नीच-सङ्गी पतित अधम।" —इत्यादि विशेषणों का प्रयोग अपने लिए किया है (इस पर कालीप्रसन्न वन्द्योपाध्याय-कृत "मध्ययुगे बाङ्ला", पृष्ठ ३६ और ६२ द्रष्टव्य हैं)।

अन्यथा, न तो ये समाज में पतित थे, न इन्होंने मुसलमान-धर्म-ग्रहण किया था (जैसा कि कुछ बङ्गाली लोग इन पङ्क्तियों का आशय लगाते हैं)। प्रत्युत (पृष्ठ ६० के)—"अस्वास्थेर छद्म करि रहे निजघरें। राजकार्य्य छाड़लि, ना जाय राज-द्वारे ॥ लोभी-कायस्थ-गण राज-कार्य्य करे। अपानि स्वगृहे करे शास्त्रेर विचारे ॥"—इन शब्दों से यह विषय और भी स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् 'राजकार्य' में ही लगे रहना लोभी कायस्थों को ही मुबारक हो। अपने राम तो 'लोभी' कायस्थों में नहीं। अतः राजद्वार जाना और राजकार्य करना छोड़कर अपने घर में शास्त्र का विचार करते हैं।

स्मरण रहे कि महाराष्ट्र और बङ्गाल में कुछ स्मृति-पुराण-वाक्यों का आधार लेकर यह मान लिया गया था कि कलियुग में, ब्राह्मण और शूद्र, दो ही वर्ण रह गए हैं, क्षत्रिय और वैश्य कहीं प्रकट रूप से नहीं रह गए हैं। इसके साथ पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र-कृत "जाति-भास्कर" (संवत् १९८३, पृष्ठ २७४) के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

"राजा लक्ष्मणसेन···ने नवीन कुलपद्धति निर्माण की, परन्तु उस समय भी वैदिक ब्राह्मण, वारेन्द्र कायस्थ, और वैद्य-गण, उसमें सम्मत न हुए—जब द्विजों का यज्ञोपवीत देखकर लोग हास्य करने लगे तब ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य जातियों में से यज्ञोपवीत का लोप होने लगा और—'युगे जघन्ये द्वे जाती ब्राह्मणः शूद्र एव च'—कलियुग में ब्राह्मण और शूद्र के सिवाय दूसरी जाति नहीं है—यही श्लोक प्रमाण रूप से वङ्ग में भी प्रचार पाने लगा, इसके थोड़े ही काल पीछे महामति हलायुध ने यह घोषणा की थी कि—'वेदार्थ-ज्ञान-पराङ्मुखस्य ब्राह्मणस्य शूद्रत्वम्' अर्थात् जो ब्राह्मण वेदार्थ-ज्ञान से पराङ्मुख (रहित) हो वह शूद्र है ॥" महाराष्ट्र में भी "कलौ न क्षत्रियाः सन्ति कलौ नो वैश्यजातयः ॥ ब्राह्मणाश्चैव शूद्राश्च कलौ वर्ण-द्वयं स्मृतम् ॥"—ऐसी प्रसिद्धि चल पड़ी।

ऐसी स्थिति में उस समय राजकर्मचारी-ब्राह्मण (अर्थात् 'कायस्थ' कहलाने वाले लोग) यदि ब्राह्मणों से सर्वथा बहिर्गत जाति होते

तो शूद्र ही होते, क्योंकि दो ही वर्णों में सब हिन्दुओं का विभाजन किया जाता था। और अत एव कृष्णदास सीधे से यही कहते कि "तुम भी तो कायस्थ (अर्थात् शूद्र) हो, तुम भी तो ब्राह्मण नहीं हो"। और यदि इधर के प्रदेशों में 'कायस्थ' लोग शूद्र माने जाते होते, तो रूप-सनातन द्वारा 'शूद्र' कहे जाने पर कृष्णदास तत्काल कह देते, "तुम भी तो शूद्र हो" इत्यादि। 'शूद्र' न कह कर 'कायस्थ' कहना और 'ब्राह्मण नाहीं' न कह कर 'अग्निहोत्री नाहीं' कहना केवल ब्राह्मण जाति के भीतर वृत्तिभेद (कर्मभेद) से बने एक ही जाति के दो अवान्तर भेदों (कुलों अथवा शाखाओं) का सूचक है जिनमें एक ऊँचा और दूसरा नीचा विवक्षित था।

याज्ञवल्क्य० २।३१ के अनुसार पूगाः (जनसमूह), श्रेणयः (कारीगरों या व्यापारियों के समूह) और 'कुलानि' (जात्यादि समूह) के सूचक हैं। अतः 'कुल' शब्द ब्राह्मणादि के समूह का वाचक है और इसी लिए 'कुलीन व्यवस्था' भी वैदिक ब्राह्मणों, और वारेन्द्र कायस्थों में न चल कर, अन्य सभी ब्राह्मणों एवं वङ्गज उत्तरराढीय तथा दक्षिण-राढीय कायस्थों में ही प्रचलित हुई, वैद्यों में नहीं चलाई गई। इससे भी कुलीन ब्राह्मणों के साथ उक्त कायस्थों का भी मूलतः ब्राह्मण होना सिद्ध है। और "कुल" के—"आचारो विनयो विद्या प्रतिष्ठा तीर्थ-दर्शनम्। निष्ठा वृत्तिस्तपो दानं नवधा कुल-लक्षणम् ॥"—आचार विनय विद्या प्रतिष्ठा तीर्थों के दर्शन निष्ठा वृत्ति तप और दान—इस ९ प्रकार के लक्षण से भी "कुलीनता" में इन दो ही की समता होने से कायस्थों का ब्राह्मणों से अत्यन्त सामीप्य-सादृश्य ही सिद्ध होता है।

(११) यद्यपि "विवादार्णवसेतु" के समयतक कायस्थलोग ब्राह्मणों के याजनादि-षट्कर्माद्यनुष्ठान से रहित केवल जातिमात्र के ब्राह्मणों में परिगणित होने लगे थे, तथापि प्राचीन और मध्य काल में परिस्थिति भिन्न थी। जैसा पूर्वोक्त प्रमाण (५) से स्पष्ट हो चुका है, कायस्थ वृहत् ब्राह्मण-समुदाय के ही अन्तर्गत थे और अत एव कायस्थ-पदों के प्राप्त होने से पूर्व और उन के छूट जाने पर (राजत० ८।९९-१०६)

ब्राह्मण-वृत्ति और ब्रह्मकर्मानुष्ठान ही उनका एकमात्र अवलम्बन होता था। विवाह-सम्वन्ध कायस्थों के कायस्थों से ही होने की बात अनहोनी-सी और प्रजा के लिए अनिष्ट थी, क्योंकि ब्राह्मणों से पृथक् कायस्थों की अपनी कोई जाति नहीं बन पाई थी। अन्यथा, कायस्थ का वैवाहिक सम्वन्ध कायस्थ से ही होना अतीव स्वाभाविक होता जो जाति का मूलाधार है, और महाराज ललितादित्य मुक्तापीड का वचन (तरङ्ग ४ श्लोक ३५२) पागल के असम्बद्ध प्रलाप (Sheer non-sense) से अधिक कुछ मूल्य न रखता।

आगे चल कर कई पीढ़ियों तक यही वृत्ति रहने से बने हुए कायस्थों के कुल जब परस्पर में ही विवाह-सम्बन्ध सीमित करने लगे तब उनकी मौलिक ब्राह्मण-समुदाय से पृथक् स्थानीय जातियां बनने लगीं। तथापि उस समय तक भी ब्राह्मणवर्ण के षट्कर्म सर्वथा लुप्त न हो कर किसी न किसी मात्रा में इनमें चलते ही रहे।

मनु० (१।८८ और १०।७५-८०) के अनुसार ब्राह्मण के षट्कर्मों में से तीन तो—दान देना, यज्ञ करना और अध्ययन (वेद-पाठ) करना, जो त्रैवर्णिकों के एक-से होते हैं—धर्म हैं, और तीन—याजन, अध्यापन, और प्रतिग्रह—वृत्ति (जीविका)-मात्र माने गए हैं। जब वृत्ति 'कायस्थ' कर्म हो गया, तब सामान्य रूप से याजन अध्यापन और प्रतिग्रह का क्रमशः सङ्कुचित होते जाना स्वाभाविक ही था। फिर भी राजदर्बार के वृत्तिकर्म के अतिरिक्त कायस्थों के धर्मरूप कर्मों का निर्देशक, "ब्राह्मणोत्पत्तिमार्तण्ड" संवत् १९०९, पृष्ठ ५२७ इत्यादि में उद्धृत, यह वचन चला आ रहा है—"कर्माणीह तु तान्येषां या गतिस्त्रिषु वर्णतः। द्विजातीनां यथा दानं यजनाध्ययने तथा॥ कर्तव्यानीति कायस्थैः, सदा तु निगमाँल्लिखेत्। पुराणपाठकाः सर्वे सर्वे तत्स्मृतिशंसकाः॥"
ायस्थों को दान यजन और अध्ययन, जैसे द्विजातियों को होते हैं, वैसे ही करने चाहिए, इनके कर्म वे ही हैं जो वर्णों में तीन के भीतर की चाल। सदा वेदो तथा वेदाङ्गादि ग्रन्थों को लिखा करें। ये सब के सब पुराणों के पाठक और स्मृतियों (धर्मशास्त्रों) के प्रख्यापक होंगे।

ऐसी व्यवस्था मुग़लकाल तक प्रचलित थी, जिस के पश्चात् चित्रगुप्त से कायस्थों की उत्पत्ति वाली विविध कथाएं रची गईं।

उक्त वचन के अनुसार कायस्थों के कर्म द्विजातियों वाले दान यजन और अध्ययन तो हैं ही, परन्तु ब्राह्मणोचित वृत्तिकर्मों (प्रतिग्रह याजन और वेदाध्यापन) के स्थान पर ब्राह्मण-वर्णोचित विशेष कर्म 'वेदों का लिखना' 'पुराणों के पाठक (अध्यापक, वाचक) होना' और 'स्मृतियों (धर्मशास्त्रों) के शंसक (शिक्षक, आदेष्टा) होना' (जो मन्त्री इत्यादि राजकर्मचारियों से सम्बद्ध हैं) बतलाए गए हैं। यहां वेदों की पोथियां लिख कर जीविकोपार्जन करना प्रतिग्रह के स्थान पर है। श्रीवरकृत-"राजतरङ्गिणी" के श्लोक ६—"कायस्थोक्तिवदेवेयं कृता स्मृत्यै भविष्यताम्। दृष्ट्वेदं ललितं काव्यं कुर्वन्त्वन्येऽत्र पण्डिताः॥" में कथित प्राचीन और सम-सामयिक वृत्तान्तों का सङ्ग्रह करके आगे होने वाले लोगों को स्मृत कराते रहना—अर्थात् इस प्रकार से परम्परा-द्वारा पुराणों का अध्यापन (प्रचारण) करना ही वेदाध्यापन के स्थान पर है। तथा राजसभा में व्यवहार-निर्णय (मुक़दमों के विचार-पूर्वक फ़ैसले) के अवसर पर धर्मशास्त्रों का आदेश करना एवं प्राड्विवाक-कर्म ही यज्ञ कराने के स्थान पर इष्ट है।

पं० नगेन्द्रनाथ वसु कृत "कायस्थेर वर्ण-निर्णय" पृष्ठ ६२ के अनुसार वत्सराज-सुत हरिदास कृत "लेखक-मुक्तामणि" में भी 'लेखक' "स्मृति-पाठक" (अर्थात् धर्मशास्त्रों का अध्यापक अथवा प्रख्यापक), श्रुति-लेखिता (वेदों का लिखने वाला), एवं सकल पुराणों और शास्त्रों का वेदिता (अर्थात् ज्ञाता और शिक्षक) " कहा गया है।

इसी प्रकार से "शब्दकल्पद्रुम" ('कायस्थ'-शब्द की व्याख्या) में 'कायस्थ'—"सुधियः सर्वशास्त्रेषु काव्यालङ्कार-बोधकाः॥" 'सर्वशास्त्रों के पण्डित और काव्यों तथा अलङ्कारशास्त्रों के बोधक (शिक्षक, अध्यापक)' बताए गए हैं।

मनुस्मृति (१०।७७-७८)—"त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात् क्षत्रियं प्रति। अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः॥ वैश्यं प्रति तथैवैते

निवर्तेरन्निति स्थितिः । न तौ प्रति हि तान् धर्मान् मनुराह प्रजापतिः ।।" के अनुसार—तीन धर्म, अध्यापन याजन और [विशुद्ध पात्र से] प्रतिग्रह (दान लेना), ब्राह्मण से क्षत्रिय के प्रति निवृत्त (ख़त्म) हो जाते हैं। और उसी प्रकार ये वैश्य के प्रति भी निवृत्त हो जाते हैं, ऐसी शास्त्रोक्त वर्ण-मर्यादा है, क्योंकि प्रजाओं के पति मनुजी ने उन दोनों वर्णों के लिए उक्त तीन (वृत्ति-रूप) धर्म नहीं बतलाए हैं ।। अतः ये केवल ब्राह्मण की ही जीविका हो सकते हैं । अन्य दो द्विज वर्णों और शूद्र की कदापि नहीं । और पं० ज्वाला प्रसादमिश्र-कृत "जातिभास्कर" में उद्‌धृत "विष्णुरहस्य"—"प्रतिग्रहादौ नान्येषामधिकारस्त्रिके क्वचित् । विप्र-क्षत्रिय-मध्यस्थाः कथञ्चिदधिकारिणः ।। प्रतिग्रहोऽध्यापनं च याजनं दूत्यमेव च । विप्राणां जीविका, तत्र दूत्यं पाक्षिकमिष्यते ।। परिचर्या तु सम्प्रोक्ता, नीचानां सा न शस्यते । सभासदत्वं मन्त्रित्वं मान्यकर्म-नियोज्यता । साचिव्यमिति दूतत्वं, प्रेषणं मान-पूर्वकम् ।।"—के अनुसार, प्रतिग्रहादि तीन [वृत्ति-कर्मों]में ब्राह्मण को छोड़कर अन्य का अधिकार (योग्यता) नहीं है । विप्र (अर्थात् वैदिक याजक ब्राह्मण) और क्षत्रिय [वर्णों] के मध्य में स्थित (जिनमें 'कायस्थ'-नामक उक्त लौकिक ब्राह्मण भी आते हैं) किसी प्रकार से अधिकारी हैं । विप्रों की जीविका प्रतिग्रह अध्यापन याजन और दूत-कर्म हैं, जिनमें दूत्य पाक्षिक (optional)है । परिचर्या (नौकरी) विहित तो है, परन्तु वह नीचों की अच्छी नहीं मानी जाती है । सभासद् होना, मन्त्री होना, सम्माननीय कर्म में लगाया जाना, सचिव होना, ये दूत-कर्म हैं और सम्मान-पूर्वक प्रेषण प्रतिष्ठित (सेवाकर्म) हैं ।

इस प्रकार से ब्राह्मण-जीविका का ही पाक्षिक दूत-कर्म रूप ऊँची सरकारी नौकरी 'कायस्थों' की जीविका (रोज़ी कमाने का पेशा) है।

मनुस्मृति (७।५४, ५६, ५८-६०, ६३-६४, ११५-१२१ और ८।११, २०, ६०, ७६ तथा १४१), इत्यादि धर्मशास्त्रों के साथ कौटिल्य और बृहस्पति के अर्थशास्त्रों, शुक्रनीति और इतिहासपुराणादि के राज नीति–प्रकरणस्थ वचनों का आलोडन करने से स्पष्ट सिद्ध होता

है कि प्राचीन और मध्यकाल के हिन्दू राज्यों में प्रधान-मन्त्री, सन्धि-विग्रह-मन्त्री, अनेक प्रकार के सचिवों तथा अमात्यों, दूत, ग्रामाधिप, नगराधिकृत, सभासदों, धर्म-प्रवक्ता अथवा धर्माधिकारी तथा प्राड्-विवाक अर्थात् जज और सरकारी वकील, एवं गणक, राज-लेखक इत्यादि पदों पर सामान्यतया ब्राह्मण ही रक्खे जाते थे, अर्थात् इन सारे पदों वाली कायस्थ-वृत्ति भी उसी प्रकार ब्राह्मण-वर्ण की मानी जाती थी जैसे अध्यापन याजन और प्रतिग्रह । अन्तर केवल पारलौकिक और लौकिक कर्म का था । धर्म-प्रवक्ता अथवा धर्माधिकारी (जज) का पद धर्म-शास्त्र (क़ानून Law)-विषयक होता था । इस पर रहने वाले कायस्थों के उदाहरण ऐतिहासिक लेखों और पुस्तकों में उसी प्रकार से उपलब्ध होते हैं जैसे प्रधानमन्त्री इत्यादि पदों के सम्बन्ध में ।

कायस्थों का कोई कर्म ऐसा नहीं है जो शास्त्रकारों ने ब्राह्मणवर्ण के अधिकार से बाहिर रक्खा हो । रहे प्रतिग्रह इत्यादि, तो उनके सम्बन्ध में याज्ञवल्क्यस्मृति (१।११८) की मिताक्षरा टीका भी स्पष्ट बतलाती है कि यज्ञ करना, वेदपाठ करना और दान देना, ये तीनों धर्म ही ब्राह्मण के लिए नियम (अवश्य-पालनीय) हैं, न कि प्रतिग्रहादि वृत्ति-कर्म भी । और विशेषतः प्रतिग्रह-कर्म तो ब्राह्मण के लिए मनु० (४।१८६-१८७; १०।१०९-११२) इत्यादि द्वारा अति-गर्हित और अधम कर्म कहा गया है । ऐसी स्थिति में मन्त्री, इत्यादि के प्रतिष्ठित पदों पर पहुँचने और वंश-परम्परा-गत रहने के कारण ब्राह्मणों स्वभावतः ये प्रतिग्रहादि कर्म छूट जाते थे, और तब ये कायस्थ बन गए ब्राह्मण लोग भी जिन कर्मों के पालन से "षट्-कर्मा" कहला सकते थे, वे बृहत्पराशर-संहिता (२।७) में यों गिनाए गए हैं—

"सन्ध्या स्नानं जपश्चैव देवतानां च पूजनम् । वैश्वदेवं तथातिथ्यं षट्कर्माणि दिने दिने ।।"—सन्ध्या १, स्नान २, मन्त्रजप (स्वाध्याय) ३, देव-पूजन ४, वैश्वदेव ५, और अतिथि-सत्कार ६, ये कर्म प्रतिदिन कर्तव्य हैं।

मनु० (३।७०-७४ और ४।२१) में जिन ५ महायज्ञों को नित्य-कर्तव्य कहा है उनमें से ४ का मेल उक्त षट्कर्मों में इस प्रकार से मिल

जाताहै—१ ऋषि-यज्ञ = अध्ययनाध्यापन = ब्रह्म-यज्ञ = अहुत = जप (सन्ध्या + जप), २ देवयज्ञ = होम = हुत (देव-पूजन), ३ भूतयज्ञ = बलि = प्रहुत = वैश्वदेव (वैश्वदेव), ४ नृ-यज्ञ = ब्राह्म्यहुत = द्विजाग्र्यार्चा = अतिथिपूजन (आतिथ्य)।

मनु० का पितृयज्ञ = प्राशित = पितृतर्पण, बृहत्पराशर-संहिता वाले श्लोक में नहीं आया है और इसमें स्नान अधिक है। स्नान के विना तो कोई धर्मकार्य किया ही नहीं जाता है।

पूर्वोक्त "नर्म-माला"-वर्णित "कायस्थ" के दौरे के सामान (Camp luggage) से ही सिद्ध है कि वह ब्राह्मण के इन दैनिक कृत्यों के कभी छूट न जाने के लिए ही उस सब सामान को सदैव साथ रखता था।

हाँ, तो विचार प्रतिग्रहादि धर्म का चल रहा था।

ब्राह्मण (याजक) से "कायस्थ' में परिणत हुए पुरुषों कुलों और जातियों में ब्राह्मण के षट्कर्मों की पूर्ति भले ही "ब्राह्मणोत्पत्तिमार्त-ण्डोद्धृत" अथवा बृहत्पराशर-स्थ वचनों की दिशा से सम्पन्न हुई समझ ली जाए, परन्तु ६ में से जो याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह-वृत्ति-रूप तीन कर्म ब्राह्मण के लिए विहित हैं और क्षत्रिय वैश्यों के लिए सर्वथा वर्जित हैं उनका भी कायस्थों से तब तक भी सर्वथा लोप नहीं हो पाया था जब ये लोग विविध स्थानीय कुलों और जातियों में विभक्त होकर एक प्रकार से अन्य ब्राह्मणों से पृथक् होने लगे और व्यावहारिक रूप से 'ब्राह्मण' न बोले जा कर 'कायस्थ' नाम से ही परिचित हुए, यद्यपि तब भी इनकी प्रतिष्ठा वही, अर्थात् क्षत्रिय वैश्य और शूद्र वर्णों के अभिवादनीय होने की, बनी रही—"तीनि वर्ण आशि करे नमस्कार"

इस प्रकार से याजक ब्राह्मण और क्षत्रियों के मध्य में स्थित ये 'कायस्थ' नामक लौकिक ब्राह्मण भी प्रतिग्रहादि में अधिकारी सिद्ध हुए। कुछ उदाहरण, जो विधर्मियों के द्वारा किए हुए विनाश, और कराल काल के गाल, से बचे हुए वाङ्मय में हमारे दृष्टगोचर हो कर स्मृति-पटल पर अङ्कित हैं, यहाँ दिए जाते हैं—

(१२) याजन—वृत्ति

याजन-कर्म प्राधान्यतः कायस्थों के "वास्तव्य" अथवा "श्रीवास्तव्य" नाम से प्रसिद्ध प्राचीन महावंश की उत्पत्ति में मुख्य कारण बना था।

शुक्लयजुर्वेद माध्यन्दिन-संहिता (अ० १६, कण्डिका ३९), काण्व-संहिता (१७।६), कृष्ण-यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता (४।५।७।२), काठक-संहिता (१७।१५), मैत्रायणी संहिता (२।९।७) तथा शतपथ-ब्राह्मण प्रपाठक ६ ब्राह्मण १ (७।३।१,७) और इनके भाष्यों से विदित है कि 'वास्तु' गृह-निर्माणार्थ भूमि तथा यज्ञ-भूमि का नाम है। और रुद्र-देव यज्ञ-वास्तु में स्थित होने से "वास्तव्य" तथा उसके पालन-कर्ता होने से "वास्तु-प" कहे गए हैं। ऋग्वेद-शाकलसंहिता (७।५४-५५), निरुक्त(१०।१६-१७),इत्यादि के अनुसार ये ही रोग-हन्ता तथा गृहाधि-देव रुद्र "वास्तोष्पति" भी कहलाते हैं।

म्हैसुर और श्रीवेङ्कटश्वरप्रेस बम्बई से प्रकाशित "गोत्र-प्रवर-निबन्ध-कदम्ब" में एक "वास्तव्य" नामक [ब्राह्मण]-गोत्र भी मिलता है।

"वास्तव्य" शब्द दो प्रकार से बनता है। प्रथम तो कात्यायन के वार्तिक—"वसेस्तव्यत् कर्तरि णिच्च"—के अनुसार 'वस् निवासे' धातु में 'वसति' इस कर्तरि प्रयोग में 'तव्यत्' प्रत्यय (जो सामान्यतः 'कर्मणि' और 'भावे' प्रयोगों में लगता है) लगा है और वह भी 'णित्' माना जाने से धातु के प्रथमस्वर का होने पर "वास्तव्य" शब्द निष्पन्न हुआ, जिसका अर्थ है 'वसने वाला'। और दूसरे प्रकार में पहले 'वास्तु' शब्द, उणादिसूत्रों—"वसेस्तुन्" (१।७८) और "अगारे णिच्च" (१।७९)—के अनुसार उसी 'वस्' धातु में [घर की भूमि का अर्थ देने के सम्बन्ध से] 'णित्' माने हुए 'तुन्' प्रत्यय के जुड़ने से, बनता है। फिर उस 'वास्तु' शब्द में उसकी देवता, गोत्रापत्य, अथवा अन्य सम्बन्ध के लिए तद्धित प्रत्यय जुड़ने पर 'वास्तव्य' शब्द बनेगा।

विभिन्न पुरुषों ने संस्कृत के प्राचीन लेखों और पुस्तकों में अपनी इस जाति का जो परिचय दिया है उसमें कहीं तो इस शब्द की पहली व्युत्पत्ति और कहीं दूसरी लागू होती है। और जातिनाम भी

"श्री-वास्तव्य" और "वास्तव्य" दोनों प्रकार का मिलता है। 'श्री-वास्तव्य' नाम वाले लेखों में सब से पुराना लेख वाराणसी के जिले से प्राप्त सन् ११११६ ई० का (एपिग्राफ़िया इण्डिका जिल्द ४ पृष्ठ १०३-१०४ में छपा) है। लेखक ने पङ्क्ति २६-२७ में अपना परिचय "श्रीवास्तव्य-कुलोद्भूत-कायस्थ-ठक्कुर-श्रीजल्हण" कहकर दिया है। नाम से यह कश्मीर से आकर बसा हुआ प्रतीत होता है। 'श्री-वास्तव्य' नाम वाला सबसे पीछे का लेख सन् १४१३ ई० का मध्यप्रदेश से प्राप्त हुआ (एपि० इ० जिल्द २ पृष्ठ २३' में छपा) है। प्रशस्ति-लेखक ने अपना परिचय "श्रीवास्तव्यान्वयेन पण्डिताधीश्वरेण रामदासेन लिखिता" कहकर दिया है। "वास्तव्य" नाम वाले लेखों में प्राचीनतम ११४२ ई० का गढ़वा जिला इलाहाबाद से प्राप्त (आर्कियालॉजिकल सर्वे आव् इण्डिया जिल्द ३ प्लेट २१ में प्रकाशित) हुआ है। इसकी पङ्क्ति १ में "वास्तव्य-कायस्थ" शब्द उल्लिखित है। और सबसे पीछे वाला सन् १२८८ का अजयगढ़ (मध्यभारत से प्राप्त (जर्नल एशियाटिक सोसाइटी बङ्गाल जिल्द ६ पृष्ठ ८८२-८८४ में प्रकाशित) हुआ है। इसमें चन्देल राजाओंके मन्त्रियों वाले कायस्थवंश का विशद वर्णन है। यह विवरण मेरी १९३२ ई० तक की खोज का था जो उषा (कायस्थ-ब्राह्मणाङ्क) दिल्ली में प्रकाशित हुआ था। परन्तु इधर एपि० इण्डि० जिल्द ३० पृष्ठ ८८-९० में प्रकाशित (श्रीसन्तलाल कतरे-सम्पादित) चन्देल्ल कीर्ति-वर्मा (१०६१-१०७२ ई०)का अजयगढ़-शिलालेख 'वास्तव्य-वंश' नाम वाला प्राचीनतम लेख सिद्ध होता है। अन्तिम के परिचय में"कायस्थ-वास्तव्य···दुर्गाधिप-ठक्कुर"शब्द यों मिलते हैं"यज्ञविधि(ब्रह्मा) ने अग्नि-विधि द्वारा देवों की तृप्ति के लिए जिन आदिवेदी और उदार (ऊंचे) महर्षि कश्यप को उत्पन्न किया, उनके गोत्र में 'श्री' के निवास के कारण [कायस्थ-रूप से प्रसिद्ध एक पुरुषविशेष का] उत्तम वंश, 'वास्तव्य'-पन को प्राप्त हुआ।" यह 'वास्तव्यता' वृत्ति-विशेष थी जो 'श्री' के निवास से सम्बद्ध थी। "कायस्थ-वास्तव्य"नाम वंश-विशेष का है जिसने इस वृत्ति का अवलम्बन कर 'कायस्थ' पदवी की परम्परा धारण

की। श्लोक १७ में इस वंश का जाह्लन "सुरगुरुरिव भूमौ भूपतीनां 'क्रियार्हः"—'देवगुरु बृहस्पति के समान पृथ्वी पर राजाओं के क्रिया-कलाप का योग्यपात्र' कह कर परिचित हुआ है। शास्त्रों में यह पद सर्वत्र पुरोहित (ब्राह्मण) का बताया गया है। यज्ञानुष्ठान-तत्पर-महर्षि-कश्यप-गोत्र-जात पुरुष का बृहस्पति के समान राज-पूज्य कर्मकाण्डी होना उचित ही है। इस लेख में 'वास्तव्यता'-रूप वृत्ति-विशेष का सम्बन्ध मूलतः यज्ञानुष्ठान से और फिर "श्री" के निवास से बताया गया है—"आसीन्महर्षिः स किलादिवेदी जनोविदां कश्यप इत्युदारः। यं जातवेदो-विधितः सुराणां सन्तृप्तये यज्ञविधिः ससर्ज ॥११॥ स कोऽपि कायस्थतया प्रतीतो मनीषिभिर्मानितशेमुषीकः। तद्गोत्र.................॥१४॥ श्रियो निवासादजयत् प्रवंशो वास्तव्यतामप्रतिरूपकोऽद्रिम् ॥१५॥ जह्ले मनः......सुविद्यया धीरकुलस्य धीमान् हारूकनामा...॥१६॥ लिपिकर-कुलकोटेः कोटरस्यागमानां सुकृतविटपिमूलस्याश्रयस्य द्युतीनाम्। अभव-दमिततेजा जाह्लनस्तस्य सूनुः सुरगुरुरिव भूमौ भूपतीनां क्रियार्हः॥१७॥"

अधिकांश लेख त्रुटित होने से यह वंशविवरण अधूरा रह गया है।

और "वास्तु-पुरुष" से वास्तव्य-वंश की उत्पत्ति का सङ्केत एपि० इण्डि० जिल्द १ पृष्ठ ३३०—३३८ में प्रकाशित, महाराज भोजवर्मा के समय (१३ वीं शताब्दी) की इस वंश की एक बड़ी प्रशस्ति में, मिलता है जिसका प्रारम्भ केदाररूप शिव के नमस्कार से किया गया है। इस प्रशस्ति के अनुसार 'करण-कर्मा' (सरकारी दफ़्तरों के कार्य-सञ्चालक =करणिक=कायस्थ) लोगों के निवास से 'पवित्र' ३६ नगरियों में से एक टक्कारिका नगरी को स्वयं वास्तु[-पुरुष]ने हस्त-गत करके इसलिए अधिष्ठित किया था कि उससे उद्भूत सर्वोपकारी पात्र-सुभग द्विजाश्रय वास्तव्यवंश की वहां कल्प-पर्यन्त स्थिति बनी रहे। वास्तव्यवंश के प्राधान्य-वाली यह नगरी सदा वेदध्वनि-समूह से निनादित रहती थी। इसी वंश में जाजूक ठक्कुर हुआ जो १४ विद्याओं (पुराण न्याय मीमांसा धर्म-शास्त्र शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्दःशास्त्र ज्योतिष ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद) और सकल कलाओं का विद्वान् था। महाराज गण्ड

ने उसे अपना सर्वाधिकारी (महामन्त्री) नियुक्त किया। कायस्थ-कुल-कमल-दिवाकर जाजूक ठक्कुर ने शीघ्र प्रसन्न हुए महाराज से 'दुगौड' ग्राम और उसके दान का ताम्रशासन प्राप्त किया। उसका पुत्र महेश्वर 'सकल-वाङ्मय-पारदर्शी' हुआ जिसे महाराज कीर्तिवर्मा ने कालञ्जर के आस-पास का देश दान में दिया था। इसी महाकुल में सचिव गङ्गाधर हुआ जिसे महाराज परमर्दिदेव ने 'कञ्चुकी' का पद (जो वृद्ध ब्राह्मणों को ही मिलता था) दिया। इस वंश में आगे 'शास्त्र' और अस्त्रविद्या दोनों में निपुण रुचिकर का पुत्र गोपति हुआ जो लक्ष्मी और सरस्वती का अविरोध निवास, साधु-सेव्य, 'सज्जन-वन्द्य' और 'नृपति-प्रपूज्य' था।

सदा वेदध्वनि से टक्कारिका नगरी को गुंजाने वाले इसी वास्तव्य (कायस्थ) विप्र-वंश के पूर्वजों (जाजूक और महेश्वर) का उल्लेख-विशेष उक्त प्राचीनतम वास्तव्य-वंश-विषयक अजयगढ़ शिलालेख (एपि० इ० जिल्द ३० पृष्ठ ९०) की प्रथम चार पङ्क्तियों में यों मिलता है—"ओं नमश्चण्डिकायै। कैलाश-शैलमसमं प्रवरं गिरीणां...स नीलकण्ठः। कालञ्जरो जयति संस्पृहणीयवासः स्वर्गौकसामपि विमुच्य दिवं मनोज्ञः ॥१॥ आविर्बभूव विबुधैरपि माननीयः पद्मासन-स्त्रिभुवनामल-सूत्रधारः। कल्पान्तर-स्थितिमिता अपि यत्प्रणीत- शीलैश्चरन्ति कृतिनो विमलस्वभावाः ॥२॥ तस्यात्मजः कश्यप-नामधेयो मान्यो मुनीनामभवन्महर्षिः। यदादिमुर्वीमपि सवदन्ति न कस्य बन्धः सुचरित्रसीमा ॥३॥ वंशस्ततोऽभून्महनीय-कीर्ति-र्वास्तव्य-नामा सुचरित्रकेतुः। विशुद्धमुक्तामणिवद् विरेजुस्तस्माद् वरालङ्करणाः पुमांसः ॥४॥ कला-पुराणागम-धर्मशास्त्र-साहित्य-विद्याम्बुधि-पारदृश्वा। दयानिधानं शम-सत्य-सीमा जाजूकनामाजनि तत्र धीमान् ॥५॥ एकातपत्रं जगतीपतित्वं वितीर्य गण्डाय महीश्वराय। ग्रामो दुगौडो जनता-समृद्धो येनार्जितं शासनमाविभाति ॥६॥ सिद्धाङ्गना-गीत-यशा महौजा महेश्वरस्तत्कुल आविरासीत्। यो मानवाचारविधिन्दधानः सम्पूर्ण-पुण्यं युगमानिनाय ॥७॥ आराध्य पीताद्रिगतं विपत्सु श्रीकीर्तिवर्माणमथ प्रपेदे। कालञ्जर-द्वार-वराधिकारङ् ग्रामञ्च रम्यम्पिपलाहिकञ्च ॥८॥"

ओम् चण्डिकादेवीजी को नमस्कार। पर्वतों में श्रेष्ठ अनुमप कैलास पर्वत...नीलकण्ठ...। 'सुन्दर कालञ्जर गिरि तो सर्वोत्कृष्ट है, क्योंकि स्वर्गवासियों (देवों) को भी स्वर्ग छोड़ कर यहाँ का निवास सम्यक् स्पृहणीय (वाञ्छनीय) होता है ॥१॥ देवों को भी माननीय [तथा] तीन भुवनों (त्रिलोकी) के अ-मल (साफ-सुथरे) सूत्रधार (स्थपति, राज) पद्मासन (ब्रह्माजी) प्रकट हुए, जिनके चलाए शीलों से दूसरे कल्प तक ठहरने वाले कृति(कुशल, ज्ञानी)लोग भी विमल-स्वरूप हो विचरण करते हैं ॥२॥ उनके आत्मज कश्यप-नामक महर्षि मुनियों के मान्य हुए.......॥३॥ उनसे, वास्तव्य-नामक पूजनीय कीर्तिवाला, वंश हुआ, जिसका झण्डा सु-चरित्र है। जिससे [उत्पन्न] श्रेष्ठालङ्कार-रूप पुरुष विशुद्ध मुक्ता-मणि-सदृश विराजे ॥४॥ जिसमें जाजूक-नामक धीमान् (पण्डित)उत्पन्न हुए जो कलाओं पुराणों आगमों धर्मशास्त्र और साहित्य विद्याओं के सागर के पार-दर्शी (विद्वान्) [तथा ब्राह्मणों के स्वाभाविक गुणकर्म-रूपी] 'शम' और 'सत्य' की सीमा थे ॥५॥ जिनने पृथिवी-पति गण्ड महाराज को एकच्छत्र जगत्स्वामित्व प्रदान करके जनता-समृद्ध 'दुगौड' (दुगौर अथवा दिगौर जो टीकमगढ़ से ओरछा-मार्ग में १५ मील पर है और जो ओरछा-राजवंश का उद्गम-स्थान है) [और उनसे उसका] ताम्र-शासन अर्जित किया [जो] शोभित है [टि०—अब तक यह ताम्रपत्र प्राप्त नहीं हुआ है।] ॥६॥ उनके कुल में महातेजस्वी महेश्वर आविर्भूत हुए जिनका यशो-गान सिद्धाङ्गनाएँ करती हैं, जो मनु-विहित आचार-विधि को स्वयं धारण करते हुए, सम्पूर्ण-पुण्य वाले युग (कृतयुग, सत्ययुग) को फेर लाये ॥७॥ इसके अनन्तर विपत्काल में पीताद्रि में चले गए महाराज कीर्तिवर्मा को सर्वतः सिद्ध (सुरक्षित) करके [महेश्वर ने]कालञ्जर का वरिष्ठ द्वाराधिकार ("विशिष"-पद) और 'पिपलाहिक'-ग्राम-दान प्राप्त किया ॥८॥ भोजवर्मा और कीर्तिवर्मा दोनों चन्देल-महाराजों के विभिन्न-कालिक (टीकमगढ़ से १६ मील) अजयगढ-शिलालेखों के इस प्रकार के वर्णन से, वेदादि सब शास्त्रों के पारगामी विद्वानों, सर्वाधिकारि(महामन्त्रि)-सचिव-कञ्चुकि-पदस्थों,

नृपति-प्रपूज्यों, का सदैव वेदोच्चारण-निरत कायस्थ ठक्कुर (ज़मीन्दार) वंश जिस के कूटस्थ मूलपुरुष यज्ञविधि-ब्रह्मात्मज कश्यपमहर्षि थे और जो यज्ञ के वास्तुपुरुष से औत्पत्तिक सम्बन्ध के कारण "वास्तव्य" कहलाया, ब्राह्मण से भिन्न कैसे हो सकता है? इस वंश के वर्णन में, यद्यपि किसी पुरुष-विशेष का याजनवृत्ति से स्पष्ट सम्बन्ध नहीं दिखाया गया है, तथापि वास्तु (यज्ञभूमि अथवा यज्ञपुरुष) का सम्बन्ध मूलतः याजक होने की दिशा को प्रकाशित करता है, एवं 'वास्तव्य' (अर्थात् राजाओं द्वारा दान-मान-सहित बसाए गए श्रोत्रिय) वंश के लोगों का ग्राम-दान पाना, और यों 'ठक्कुर' होना, उच्चतम विद्या और महामन्त्री, कञ्चुकी इत्यादि ब्राह्मणोचित पदों पर रहना, एवं च 'नृपति-प्रपूज्य' होना, ब्राह्मणत्व के तो निस्सन्देह सूचक हैं ही।

इस विवरण वाले 'वास्तव्य' वंश की उत्पत्ति और स्थिति से केदार-नामक शिव अथवा 'वास्तव्य'-रुद्र, 'वेद' और 'वास्तु' अथवा यज्ञ-पुरुष, का घना सम्बन्ध लक्षित होता है। कदाचित् कुछ ऐसे ही घने औत्पत्तिक शिव-सम्बन्ध को दृष्टि में रखते हुए, वालभ-कायस्थ सोड्ढल ने स्व-रचित (गायकवाड-ग्रन्थमाला, बड़ौदा, में प्रकाशित) संस्कृत "उदयसुन्दरी-कथा" चम्पू (पृष्ठ १०-१२) में "उमेश (शिव)-वंशावतीर्ण" रूप से "कायस्थ" का परिचय दिया है।

रीवां से मलयसिंह के समय (सन् ११९२-९३) ई० का एक लेख एपिग्राफिया इण्डिका (जिल्द १९) में प्रकाशित हुआ है। इस के पृष्ठ २९९ के श्लोक ४३ पङ्क्ति २१ में उद्धरण-नामक एक विपश्चित् (पण्डित) की 'वास्तव्य-वृत्ति' का उल्लेख हुआ है। उसे 'शिव' की उपमा भी दी गई है और इसी सम्बन्ध में मही (भूमि) पर अमृत-ग्रहण की चर्चा भी की गई है जो कदाचित् वास्तव्य-वृत्ति में आगे आने वाले भूमि-विषयक कर-ग्रहणादि का आलङ्कारिक वर्णन हो सकती है। इस 'वास्तव्य' वृत्ति वाले उद्धरण का पुत्र श्रीधर 'श्री से युक्त' और पौत्र लक्ष्मीधर 'ठक्कुर' एवं 'लक्षण-काव्य-वेत्ता' तथा प्रपौत्र विद्याधर 'सर्वाधिकारी', 'अर्थ-गुण-प्रवीण', [धर्म-अर्थ-मोक्ष] 'तीन पुरुषार्थों' के तत्त्व से युक्त, परन्तु 'काम' के सार से किञ्चित् ही सम्बद्ध, और इस

लेख में वर्णित सरः (तालाब) [के निर्माण-कार्य] का 'अधिकर्ता' (Superintendent) लिखा गया है। प्रथम तीनों पुरुषों के वर्णन में 'मही' 'अवनी' और 'भू' इन भूमि-वाचक शब्दों का प्रयोग भी अभिप्राय-द्योतक है, क्योंकि 'वास्तव्य' वृत्ति मूलतः 'वास्तु' (भूमि--गृहभूमि + यज्ञभूमि) एवं भूमि-दान-प्रतिग्रह से सम्बद्ध थी। उद्धरण का यह वंश ब्राह्मण से कायस्थ बना है क्योंकि विद्याधर के विशेषण और पद कायस्थत्व के सूचक हैं। लक्ष्मीधर के विशेषण 'ठक्कुर' 'लक्षण-वेत्ता' (परखी), तथा 'काव्यवेत्ता' "ब्राह्मणत्व" और "कायस्थत्व" दोनों में पठीक बैठते हैं। श्रीधर का 'श्री' से युक्त होना, ब्राह्मण का लौकिकता की ओर झुकना है। उद्धरण के सभी विशेषण "ब्राह्मणत्व-द्योतक" हैं। परन्तु यह 'वास्तव्य' वृत्ति वस्तुतः क्या होती थी? इसका निर्णय करने के लिए और अधिक सामग्री अपेक्षित है। अजयगढ़ वाले त्रुटित लेख में भी इसका कुछ आभास "निराला (अप्रतिरूपक) प्रकृष्ट वंश 'श्री' के निवास से 'वास्तव्यता को प्राप्त हुआ" इन शब्दों में मिलता है।

रीवां-वाले लेख में ही आगे पङ्क्ति २३ इत्यादि में फिर एक अन्य 'वास्तव्य' पुरुषोत्तम-नामक, और उस के भी पूर्वजों, का विशद वर्णन यों मिलता है—"सरःसंस्थापने विद्वान् वास्तव्यः पुरुषोत्तमः। श्रीमद्वल्हण-पुत्रोऽभूदाचार्यः श्रीधरो यथा ।।४७।। पञ्चक्रतूनामपि यश्च कर्ता श्रीरामचन्द्रोऽथ बभूव विद्वान्। तस्याथ पुत्रोऽपि दिवाकराख्यः सर्वज्ञकल्पो "द्विज-मुख्य" एव ।।४८।। तस्याथ पुत्रो गुरुभक्तिचित्तो दैवाच्छ्रिया यः परिहीण (?) जातः। "आत्रेय"-गोत्रो ननु "कृष्ण"-पूर्वः काशी-निवासी च परोपकारी ।।४९।। तर्के ज्ञानमतीव यस्य चतुरः शब्दार्थशास्त्रे तथा मीमांसा-विगतो विपश्चिदभवद् वेदान्तयोगाधिधीः। वेदाभ्यास-रतः सदा सुविदुषां मूर्ध्नि प्रबद्धाञ्जलि"विप्रः" श्रीपुरुषोत्तमो भुवि महान् बुद्ध्या च वाचस्पतिः ।।५०।। तेनेयमिष्टाङ्गसुवृत्तावृत्ता हारस्य यष्टिश्च सदर्थगुच्छा। सद्वंशमुक्ताफलकीर्तिसूत्रा शस्ता प्रशस्तिः सुविनिर्मितेव ।।५१।।"

सरः-संस्थापन (तालाब की वास्तु-प्रतिष्ठा और वास्तुशान्ति) के कृत्य में 'वास्तव्य' विद्वान् (पण्डित) पुरुषोत्तम था। इसके पूर्व पुरुषों में श्रीमद् वल्हण का पुत्र 'आचार्य श्रीधर के समान हुआ,

जो 'पञ्च-यज्ञों का भी कर्ता था' [वैसा ही] तदनन्तर श्रीरामचन्द्र 'विद्वान्' हुआ। उसका पुत्र दिवाकर-नामक 'द्विज-मुख्य' प्रायः सर्वज्ञ ही था। उसका पुत्र 'विप्र' श्रीपुरुषोत्तम हुआ जो गुरुभक्ति-रत था। दैव-वश से यह 'श्री'-हीन हो गया था। यह पुरुषोत्तम 'कृष्णात्रेय-गोत्री' काशी-निवासी और परोपकारी था। इसका ज्ञान तर्क (न्याय-शास्त्र) में अतीव (उत्कृष्ट) था। साथ ही यह शब्द-शास्त्र (व्याकरण) और अर्थ-शास्त्र में चतुर, मीमांसा-शास्त्रज्ञ, वेदान्त और योग-शास्त्र में उत्कृष्ट बुद्धि वाला विपश्चित् (पण्डित), सदा वेदों के अभ्यास में रत, और बुद्धि में वाचस्पति (देवगुरु बृहस्पति) था। इसी पुरुषोत्तम ने इस प्रशस्ति की रचना की थी।

'वास्तव्य' पुरुषोत्तम के उक्त वंश-वर्णन से सभी वंशधरों का विशिष्ट ब्राह्मणत्व ही प्रकाशित होता है। अन्य प्रशस्तियों के कायस्थ-रचयिताओं के समान इस प्रशस्ति का रचयिता होने और 'वास्तव्य' उपनाम धारण करने के अतिरिक्त इस पुरुषोत्तम में भी अपने पूर्वजों के समान ही 'कायस्थत्व' का कोई गन्ध भी नहीं था। प्रत्युत वह अपने 'श्री'-हीन हो जाने का भी वर्णन करता है।

इस एक ही लेख के दो 'वास्तव्य' वंशों में से एक ओर के उद्धरण के पुत्र श्रीधर का तो 'श्री' से युक्त होना और दूसरी ओर के अन्य 'वास्तव्य' पुरुषोत्तम का 'श्री'-हीन होना और उधर अजयगढ़ वाले लेख में एक 'कायस्थतया' प्रतीत' वंश-विशेष का "श्री के निवास से 'वास्तव्यता' को प्राप्त होना" और इसी प्रकार से काशी-निवासी नृसिंह-शेष-कृत (१४००-१४५० ई० के लगभग) "गोविन्दार्णव" नामक धर्मशास्त्र निबन्ध (अलवर-महाराज-पुस्तकालय-स्थित) के श्लोक ४० में ताण्डेतिका के श्रीवास्तक-वंशीय गोविन्द-नृपति की 'वास्तवी वृत्ति' का उल्लेख होना, इस गुत्थी के सुलझाने में, कि 'वास्तव्य-वृत्ति' या 'वास्तव्यता' वस्तुतः क्या थी, एक विशेषतः विचारणीय विषय हो जाता है।

यहाँ तो यह सब विवरण हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि 'वास्तव्यों' में वास्तुप्रतिष्ठा या वास्तु-शान्ति जैसा याजन कृत्य कराने

वाले, विशुद्ध वैदिकब्राह्मण-वृत्ति वाले, लोग भी वारहवीं शताब्दी तक होते थे। वारहवीं शताब्दी के ही—"भट्टग्रामीय-श्रीसकसेनजातीय-कायस्थ-श्रीश्रीचन्द्रपुत्र---कर्मठावलेखि--श्रीमहीधरकस्य"—आर्कियालॉजिकल सर्वे-रिपोर्ट, जिल्द ३ के पृ० ५६ में मिले हुए 'सकसेन'जाति के महीधर के उक्त परिचय में कि वह भट्टग्राम के श्रीचन्द्र 'कायस्थ' का पुत्र और "कर्मठावलेखी" था, इस पद का अर्थ स्पष्ट नहीं है। कदाचित् 'कर्मठावलेखी' पद का सम्बन्ध भी ब्राह्मणों की याजन-वृत्ति से रहा हो। एपि० इण्डिका जिल्द ४ पृष्ठ १७० पङ्क्ति १२३, और १६।१४।३१—"विरचितशुभकर्मोन्नामवास्तव्यवंश्यः सकलगुणगणानां वेश्म पृथ्वीधराख्यः ...धर्मलेखी—"ऊँचे नाम वाले 'वास्तव्य' वंश में उत्पन्न पृथ्वीधर-नामक 'धर्मलेखी' सकल गुण-गणों का अगार था, जिसने शुभकर्म विरचित किए थे। और—एपि० इ० १०।४६।२०-२१—"विशदगुणगणौघोन्नाम-वास्तव्यवंश्यः सकलविदितशास्त्रःश्रीशुभानन्दनामा।...धर्मलेखी—"जिसके गुण-गणों की वाढ़ विशद है उस सरनाम 'वास्तव्य' वंश में उत्पन्न और सकलशास्त्रों का विद्वान् श्रीशुभानन्द-नाम [करणिक] धर्मलेखी, इत्यादि में आया हुआ 'धर्मलेखी' शब्द तो राजाओं के दान-पत्रों (ताम्रशासनों) के लेखक रूप अथवा धर्माधिकारी (धर्मप्रवक्ता)—जज के यहाँ के प्रधान लेखक (जुडिशल रजिस्ट्रार) रूप 'कायस्थ' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ विज्ञातार्थ है। परन्तु यह "कर्मठावलेखी" पद उससे भिन्न लगता है। सर्ववेद-भाष्यकार श्रीसायणाचार्य ने तैत्तिरीयसंहिता (४।५।७।२)—"नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च"—के भाष्य में लिखा है—"वसु धनं, तत्र तत्कार्यरूपेणावस्थितो वास्तव्यः। गृहनिर्माणार्था भूमिर्वास्तुः, तत्पालको वास्तुपः।" 'वसु' नाम धन का है, उसमें कार्य-रूप से अवस्थित 'वास्तव्य' हुआ। और गृह-निर्माण के प्रयोजन वाली भूमि 'वास्तु' कहलाती है, उसका पालन-कर्ता 'वास्तुप' है।

"याजन" उपशीर्षक के प्रारम्भ में जिन प्रथम ५ वैदिक ग्रन्थों के नाम और पते "वास्तव्य" और "वास्तु" शब्दों के सम्बन्ध से दिए जा चुके हैं उन सब में यह उक्त वाक्य, रुद्र को विविध नामों से नमस्कार करने

के मन्त्रों के मध्य में, आया है, जिनमें 'वास्तव्य' और 'वास्तुप' भी रुद्र के नाम हैं। तथा वहीं दिए हुए शतपथ ब्राह्मण के पते के ये वाक्य हैं—
"......योऽयं देवः पशूनामीष्टे स इहाहीयत तस्माद् वास्तव्य इत्याहुर्वास्तौ हि तदहीयतेति ॥१॥"

"...तस्माद् वास्तव्य इत्याहु—र्वास्तु हि तद् यज्ञस्य यद् हुतेषु हविष्षु ॥७॥"—जो यह ['पशु-पति'] देव पशुओं के ईश हैं वे यहाँ (यज्ञ में) अहीन हुए, इस लिए उन्हें 'वास्तव्य' कहते हैं, क्योंकि 'वास्तु' (यज्ञ) में वे हीन नहीं होते हैं ॥१॥......इस लिए 'वास्तव्य' कहते हैं, क्योंकि हवियों के ही चुकने पर जो रहता है वह 'यज्ञ का वास्तु' है। [यह स्विष्टकृद् (अग्नि) का भाग होता है।]

इसी के सम्बन्ध में गीता—"यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म"सनातनम्" और माघ कवि—"अमृतं नाम यत्सन्तो मन्त्रजिह्वेषु जुह्वति ।"—देवों को अर्पण करने के पश्चात् शेष अंश को "अमृत" कहते हैं। यह भी पहले पार्थिव अग्नि (स्विष्टकृत्) अथवा पार्थिव पशुपति देव का भाग (अमृत) है।

इससे रीवां वाले लेख के 'वास्तव्य' उद्धरण पण्डित के शिवोपम होने, और 'वास्तु' अथवा 'यज्ञ' के सम्बन्ध में पृथ्वी पर अमृत- ग्रहण, पर कुछ प्रकाश पड़ना सम्भव है। एवञ्च पुरुषोत्तम की 'वास्तव्यता' की भी 'वास्तु'सम्बन्ध से याजन-कृत्य-रूपता बुद्धिगम्य होने की दिशा मिलती है। सायणाचार्य ने वसु (धन) पर कार्यरूप से अवस्थित को 'वास्तव्य' कहा है। और वास्तु (यज्ञ-भूमि) के सम्बन्ध से भी 'वास्तव्य' शब्द निष्पन्न होता है। दोनों प्रकार के ('वास्तव्य' और 'श्री-वास्तव्य') कायस्थों का पुष्कल वर्णन शिलालेखों और ताम्र-शासनों में मिलता है। 'यज्ञ'-विधि (ब्रह्मा)के पुत्र महर्षि कश्यप से चला 'वास्तव्य'-वंश सतत वेद-पाठ और यज्ञ से सम्बद्ध था।

अतः उद्धरण पण्डित चाहे राज-कर ग्रहण के कारण सायण-प्रदर्शित रीति से ('वास्तव्य'-वृत्ति वाला) हो, चाहे तालाब का 'अधिकर्त्ता' इत्यादि होने से 'वास्तु' के सम्बन्ध से याज्ञिक 'वास्तव्य' रहा हो। परन्तु पुरुषोत्तम की 'वास्तव्यता' तो उसके अपने तथा पूर्वजों

के वर्णन से यज्ञ-सम्बन्धिनी ही सिद्ध होती है। अतः 'वास्तव्य' वंश के नामकरण में उभय-विध विशिष्टता की छाप पड़ी है।

वस् धातु से 'वसने वाले' (वसे हुए) के अर्थ में 'तव्यत्' प्रत्यय लगाने से बना हुआ जो 'वास्तव्य' शब्द है और जिस का 'वास्तु' शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है उसके पुष्कल प्रयोग कह्लण-कृत राजतरङ्गिणी में आए हैं। उन पर भी विचार कर लेना चाहिये। सम्भवतः उस से कोई प्रकाश इस समस्या के सुलझावे की ओर पड़े।

इसके भी पूर्व यह बता देना आवश्यक है कि प्राचीन लेखों में सैकड़ों तो क्या हजारों प्रयोग इसी 'वास्तव्य' शब्द को उन ब्राह्मणों के वर्तमान-निवास-स्थान-विशेष के नामके अन्तमें जोड़कर दिए गए मिलते हैं, जिन्हें राजाओं से दान (विशेषतः भूमि-दान) मिला है। और जिस स्थान से वे आकर वहाँ बसे हैं उसके नाम के अन्त में 'विनिर्गत' शब्द जोड़ा जाता रहा है। सन् १९०२ ई० की इण्डियन् ऐण्टिक्वैरी (जिल्द ३१) के पृष्ठ ३३१-३३८ और ३९३ में विविध लेखों के उदाहरणों के सहित इस 'वास्तव्य' शब्द पर विशद विचार किया गया है। फिर भी यह भ्रम न होना चाहिये कि 'वास्तव्य' शब्द का ऐसा प्रयोग केवल ब्राह्मणों के लिए किया जाने का कोई नियम है। जो कोई भी किसी स्थान में बसता है उस के लिये उस स्थान-विशेष के नाम के साथ समास का अन्तावयव बना कर 'वास्तव्य' शब्द प्रयुक्त हो सकता है, जैसे 'प्रयाग-वास्तव्य', 'काशी-वास्तव्य', इत्यादि।

राजतरङ्गिणी (३।३६२; ५।२१७; ५।३४६; ८।१५७२ इत्यादि) में कह्लण ने 'अमुक देश अथवा नगर के निवासी' के अर्थ में इस (वास्तव्य)शब्द का प्रयोग किया है। राजतरङ्गिणी भर में यह शब्द किसी 'कायस्थ'-पदधारी के सम्बन्ध में नहीं आया है, प्रत्युत उन लोगों के लिए प्रयुक्त हुआ है जो कायस्थों द्वारा कर की वसूलयाबी में पीडित होते थे (४।६२१,६२३,६२४,६२९,६३० द्रष्टव्य हैं) इसी प्रकार से 'वास्तव्यों के पीडन' के द्वारा, महाराज हर्ष की धनार्जनेच्छा का वर्णन ७।११०१ में है। ७।३४६-३४७ में त्रस्त 'वास्तव्यों' का महाराज

चक्रवर्मा के द्वारा, नगर-प्रवेश के अवसर पर किया हुआ, सान्त्वन और महाराज के प्रति इन 'वास्तव्यों' का आशीर्घोष (आशीर्वाद) इनके ब्राह्मण होने का प्रमाण है। ४।६३१—६५६ में विशेषतः ब्राह्मण (४।६३१,६४१), विप्र (६३२, ६३७, ६३८, ६४२, ६५३), द्विज (६४०,६४१,६५१) और ब्रह्म=(६४५,६६१,६५६) शब्दों का प्रयोग जिन 'वास्तव्यों' (४।६३९) के लिए किया गया है वे 'वास्तव्य' अधिक स्पष्ट रूप से जमीन्दार ब्राह्मण हैं। ६।१४—४१ में "अत्र वास्तव्यः" (६।१५) कह कर एक ऐसे धनी 'वास्तव्य' का वर्णन आया है जिसने 'प्रायोपवेश किया था। आए-दिन 'प्रायोपवेश' करना राजतरङ्गिणी में ब्राह्मणों के एक ऐसे वर्ग की विशेषता बन गई थी जो रूपक-द्वारा पुरी (राजधानी) को जलाने वाली ५ अग्नियों में से एक 'प्रायस्थ' नाम से (८।११०) वर्णित हुआ है। 'प्रायस्थों' का वर्णन चौथे से आठवें तरङ्ग तक के श्लोकों में बहुतायत से मिलता है, जिन में ४।८२,९९,५।४६८; ६।२५,३३६,३४३; ७,१३,१०८८,११५७,१६११ ८।५१,११०,६५८,७०९,७६८,८०८,९३९,२२२४,२७३३,२७३९इत्यादि स्थल विशेषतः द्रष्टव्य हैं।

इस प्रकार राजतरङ्गिणी में 'वास्तव्य' शब्द 'वसे हुए' के अर्थ में जिन लोगों के लिए प्रयुक्त हुआ है उनमें 'आशीर्वाद' देने अथवा प्रायोपवेश करने से कुछ का ब्राह्मण होना सिद्ध होते हुए भी इस शब्द के प्रवृत्ति-निमित्त का रहस्य पूर्णतया खुलने की दिशा में कोई प्रकाश-विशेष नहीं पड़ता है। परन्तु राजतरङ्गिणी में 'कायस्थों' राजकाज के अधिकारियों) के सम्बन्ध में इस शब्द का प्रयोग कहीं न किया जाना, प्रत्युत उन्हें अधिकतर प्रजापीडन करके राजकोष बढ़ाने वालों अथवा अपने सुख के लिए प्रजाओं को चूसने वालों के रूप में चित्रित करना, और इन के विपरीत 'वास्तव्यों' को इनसे पीडित होने वालों के रूप में वर्णित करना, एवं जो राजा इन पीडक अधिकारियों का पक्षपात करें उनकी निन्दा करना, और जो इनको दण्ड देकर शासनसूत्र का परिवर्तन करते हुए प्रजाओं और विशेषतः धार्मिक

ब्राह्मणों को सुखी करें उनकी नीति की प्रशंसा करना, कह्लण की दृष्टि के सामने किसी निर्धारित लक्ष्य और धर्म-नियम-विशेष के सूचक हैं। और वह लक्ष्य-विशेष हमें मनु-याज्ञवल्क्यादि में मिलता है।

याज्ञवल्क्यस्मृति अध्याय १ श्लोक ३३६-३४१ का यह कहना है—"चाट, तस्कर, दुर्वृत्त, महासाहसिक, इत्यादि और विशेषतः कायस्थों से पीडित की जाती हुई प्रजाओं की [राजा] रक्षा करे ॥ ३३६ ॥ रक्षित न की जाती हुई प्रजाएं जो कुछ पाप करती हैं उसमें से आधा राजा का होता है, क्योंकि वह [रक्षार्थ ही] करों को लेता है ॥३३७॥ राष्ट्र के अधिकारियों की चेष्टा को चारों (गुप्तचरों) के द्वारा जान कर राजा उनमें से अच्छे लोगों को सम्मानित करे और उनसे विपरीतों को तीव्र दण्ड दे (घातयेत्)॥३३८॥ उत्कोच (रिश्वत) से जीविका करने वालों को द्रव्य-हीन कर के [अपनी सीमा से] निकाल दे [और] श्रोत्रियों को सदा दान-मान-सत्कार-सहित वसाए ॥३३६॥ जो राजा राष्ट्र से अन्याय द्वारा [धन खींच कर] अपना खजाना बढ़ाता है वह बान्धवों सहित शीघ्र लक्ष्मी-रहित हो नाश को प्राप्त होता है ॥४४०॥ प्रजाओं के पीडन-जन्य सन्तापाग्नि (आह की आग) राजा के कुल, लक्ष्मी और प्राणों को दग्ध किए विना निवृत्त नहीं होती है ॥३४१॥

यही आदर्श कह्लण को सदा प्रेरणा देता रहता था जिसके लिए उसे अनेक विषम अवसरों पर बिगड़ी शासन-व्यवस्था की निन्दा और उक्त आदर्श की स्तुति में अपनी कलम उक्त रीति से चलानी पड़ी। और इसी आदर्श के श्लोक ३३६—"उत्कोच-जीविनो द्रव्य-हीनान् कृत्वा विवासयेत्। स-दान-मान-सत्कारान्-छोत्रियान् वासयेत् सदा ॥" में हमको अपनी उलझन का सुलझाव भी मिल जाता है। 'रिश्वत-खोरों को सर्वस्व छीन कर शहर-बदर कर देना या देश-निकाला दे देना और श्रोत्रियों को सदा दान-मान-सत्कार-पूर्वक वसाना' एवं 'दुष्ट अधिकारियों को अपमानित (दण्डित) करना और सज्जन अधिकारियों को सम्मान-पूर्वक उन रिक्त स्थानों पर प्रतिष्ठत करना ही उक्त

दुर्व्यवस्था-जनित कुशासन को सुव्यवस्था में लाने का एकमात्र तरीक़ा है। ऐसा ही भाव मनु० (७।१२३-१२४, १३३-१३५तथा६।२५३-२५४,२५८, २६०,२६१) का भी है 'राज्ञो हि रक्षाधिकृता परस्वादायिनो शठाः। भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः।।७।१२३।।ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः। तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात् प्रवासनम् ।।१२४।। म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात् करम् ।१३३। संरक्षेत् सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम्। श्रुतवृत्ते विदित्वास्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ।।१३५।। रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात्। नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः ।।६।२५३।। अशास्तततस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः। तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ।।२५४।। उत्कोचकाश्चोपधिकाः वञ्चकाः कितवास्तथा ।......।।२५८।। एवमादीन् विजानीयात् प्रकाशाँल्लोककण्टकान्। निगूढचारिणश्चान्यानार्यानार्यलिङ्गिनः ।।२६०।। तान् विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः। चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत् ।।२६१।।" मनु० ७।१३५ में राजा के लिए आदेश है कि श्रोत्रिय से कभी 'कर' न ले, उसकी सब ओर से ऐसे रक्षा करे जैसे पिता औरस पुत्र की करता है और इसके वेद-शास्त्र-ज्ञान और वृत्त (सच्चरित्र) के अनुसार धर्मोचित वृत्ति (जीविका) की व्यवस्था करे। याज्ञवल्क्यस्मृति १।२०० में कहा है कि पात्रता केवल विद्या अथवा तपस् से नहीं आंकी जाती है। जिसमें वृत्त और (धर्माचरण) ये दोनों भी हों वह 'पात्र' माना गया है।

'श्रोत्रिय' का यह लक्षण स्मृतियों में दिया गया है—जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रियलक्षणम्। शुद्ध ब्राह्मण और ब्राह्मणी से जन्म होने पर 'ब्राह्मण' उपनयनादि संस्कारों से 'द्विज', और विद्या से 'विप्र' संज्ञा होती है। तीनों के एकत्र होने से 'श्रोत्रिय' का लक्षण बनता है।

अब स्पष्ट समझ में आ जाएगा कि विद्या, तप और वृत्त से संयुक्त 'श्रोत्रियों' को राजा लोग शासन-लेखों द्वारा 'भूमि' इत्यादि का दान करके क्यों अपने राज्य में सदा दान-मान-सत्कार-पूर्वक वसाते

थे और क्यों इनसे कोई कर नहीं लेते थे। बल्कि जो राज-पुरुष इनको 'कर' इत्यादि से पीडित करते थे उनको दण्ड देकर उनके स्थान पर नए सज्जनों को रखते थे, जिनसे दूषित व्यवस्था परिर्वतित हो जाती थी। राजतरङ्गिणी में महाराज उच्चल का यही आदर्श दिखाया गया है। एक बात ध्यान देने की है। पीडन-कर्त्ता (कायस्थ अधिकारी) और पीडित 'वास्तव्य' दोनों ब्राह्मण-भूयिष्ठ होते थे। ,

कह्लण ने याज्ञवल्क्यस्मृति का आधार न केवल राजाओं के दान-मान-सत्कार-पूर्वक बसे-बसाए श्रोत्रियों के साथ सहानुभूति प्रदर्शित करने में, अपितु अन्य स्थलों में भी लिया है। जैसे महाराज बालादित्य ने ज्योतिषी की भविष्यद्वाणी-रूप 'दैव' (भाग्य) के विरुद्ध अपनी कन्या अनङ्गलेखा को किसी राजान्वयी (क्षत्रिय) से न विवाहित करके अपने से भी ऊंचे कार्कोट-कुल के अश्वघास-कायस्थ दुर्लभवर्धन से ब्याह कर 'दैव' को 'पुरुषकार' (पुरुषार्थ) के द्वारा जीतने का यत्न किया (तरङ्ग ३ श्लोक ४८७)—"सुता-सन्तान-साम्राज्य-मनिच्छन्नथ पार्थिवः। दैवं पुरुषकारेण जेतुमासीत् कृतोद्यमः॥" अब देखिए याज्ञवक्यस्मृति अध्याय १ श्लोक ३४९,३५१—"दैवे पुरुषकारे च कर्म सिद्धिर्व्यवस्थिता। तत्र दैवमभिव्यक्तं पौरुषं पौर्वदैहिकम्॥ यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्। एवं पुरुकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति॥

राजतर० ३।४८७ में कह्लण ने 'दैव' के साथ 'उद्योग' 'पौरुष' इत्यादि शब्दान्तर का प्रयोग न करके 'पुरुषकार' शब्द याज्ञवल्क्य से प्रभावित रहने के कारण प्रयुक्त । । अन्य उदाहरण भी इस प्रभाव के मिलेंगे। अतः कह्लण के उक्त 'ब्राह्मण' 'विप्र' 'द्विज' 'ब्रह्म०' "वास्तव्य" (४।६३१—६५६ इत्यादि) भी याज्ञवल्क्य १।३३८—३३९ के अनुसार राजाश्रय में बसे हुए (वास्तव्य) श्रोत्रिय सत्पात्र ब्राह्मण हैं, जिनका राज-प्रदत्त भूमि और धन से समृद्ध होकर जमीन्दार (ठक्कुर) हो जाना कुछ भी असम्भाव्य नहीं था, बल्कि 'श्रुत' और 'वृत्त' से संयुक्त होने के कारण ये 'वास्तव्य श्रोत्रिय विप्र' ही 'धर्म-गोप्ता' हो सकते थे। अतःइन्हीं में से नए पदाधिकारी (कायस्थ) भी पहले वाले दुष्ट कायस्थों के स्थान पर रक्खे

जाने की ओर राजतरङ्गिणीकार की सहानुभूति दिखाई पड़ती है। फिर चाहे आगे चलकर ये भी "प्रभुता पाइ" 'मद-ग्रस्त' क्यों न हो जाएँ।

इस प्रकार से इण्डियन् ऐण्टिक्वेरी ३१।३३१—३३८, ३६३ और राजतरङ्गिणी के 'वास्तव्य' शब्द के साथ अनेक कायस्थ 'श्रीवास्तव्यों' अथवा 'वास्तव्यों' का भी पहले इसी प्रकार के प्रतिष्ठित वसे हुए श्रोत्रिय ब्राह्मण होना सर्वथा तर्क-सङ्गत है जिनके वंशज क्रमशः सत्पात्र ब्राह्मणों से स्थायी 'कायस्थ'-कुलों में बदलते गए। 'वास्तु' से उत्पन्न कायस्थ 'वास्तव्य' वंश भी, इसी लिए—'सर्वोपकारकरणैकनिधेः' स्वकीय-वंशस्य 'पात्र-सुभगस्य' 'द्विजाश्रयस्य'। 'कल्पावसानसमय-स्थितये पुरीं यां वास्तुः स्वयं..... 'एपि० इ० (१।३३३), 'सब का उपकार करने के ही एकमात्र निधि वाला' 'सत्पात्रों के सौन्दर्य वाला' और 'द्विजाश्रय'—इन विशेषणों से विशिष्ट देखा जाता है।

'वास्तु' से सम्बद्ध 'वास्तव्य' वंश का ब्राह्मणत्व कुछ काल तक अपनी याजकीय-वर्ग की विशेषता से अत्युज्वल रहकर पश्चात् 'श्रीवास्तव्य' महावंश में ही विलीन हो गया, यह 'वास्तव्य' और 'श्रीवास्तव्य वंश-नामों से सम्बद्ध (उषा-कायस्थ ब्राह्मणाङ्क १६३२ में उद्धृत) विविध लेखों के काल-विशेष के सूचन से ही प्रदर्शित किया जा चुका है।

इन वास्तव्यों' की "वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत्" (मनु० ७।१३५) 'धर्मोचित जीविका' (राजाओं के द्वारा उन्हें वसाकर जिसे स्थिर कर देने का आदेश मनु देते हैं) ही 'वास्तव्य-वृत्ति' उन-उन प्राचीन लेखों में कही गई है। इसके अन्तर्गत "अर्हयेद्दानमानाभ्यां" के अनुसार इन्हें मिला हुआ 'भूमि' इत्यादि का दान, तथा याजनादि कर्म और राजकाय सम्मान्य पद, तथा उस सब ब्राह्मणोचित प्रतिष्ठा के फलरूप जमीन्दारी, जिससे ये ब्राह्मण 'ठक्कुर' कहलाने लगे—यह सभी कुछ आ जाता हैं।

धर्मशास्त्र-निबन्धों के अनुसार भी 'प्राड्-विवाक' के पद के अन्तर्गत याजनकर्म एक विशेष प्रकार से आता है, क्योंकि प्राड्-विवाक को दिव्य (ordeal)-विषयक समस्त कर्म वेदमन्त्रों से राजसभा में करने पड़ते थे। अतएव इस पद पर रहने वाला वेद-वेदान्त-पारङ्गत विप्र होता

था—"प्राड्-विवाकस्ततो विप्रो वेद-वेदान्त-पारगः । सर्वासां देवतानां च पूजां कुर्याद् यथाविधि ।।" —तदनन्तर वेद-वेदान्त-पारगामी विप्र प्राड्-विवाक सब देवताओं की विधिपूर्वक पूजा करे । "दिव्येषु सर्वकार्याणि प्राड्-विवाकः समाचरेत् । अध्वरेषु यथाध्वर्युः सोपवासो नृपाज्ञया ।।" धर्मशास्त्र-निवन्धों में उद्धृत इस प्रजापति (पितामह)-वचन के अनुसार-- दिव्यों (तुला,अग्नि,जल,विष और कोष द्वारा शपथों—याज्ञवल्क्य-स्मृति २।९७–११५; मनु० ८।१०९–११६) में सभी कार्यों को उपवास-पूर्वक प्राड्-विवाक राजाज्ञा से उसी प्रकार करे जैसे अध्वर्यु यज्ञों में सब कार्य करता है ।

अर्थात् प्राड्विवाक अध्वर्यु के स्थान पर और दिव्य-कार्य यज्ञों के अवान्तर कर्मों के स्थान पर तथा राजा की न्याय-सभा यज्ञ-स्थल के स्थान पर है और अध्वर्यु के समान प्राड्-विवाक भी याजक ब्राह्मण है ।

इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिए विविध धर्मशास्त्र-निवन्धों के व्यवहार-प्रकरणों में "दिव्य" विषय और विशेषतः पराशर-माधव (वम्बई संस्कृत-ग्रन्थावलि ६७) "व्यवहार-काण्ड" (१९११ ई०) के पृष्ठ १६४, १७६, १९६ इत्यादि, एवं "सरस्वती-विलास" (म्हैसुर संस्कृत-ग्रन्थमाला-७१) पृष्ठ १८४—२१४ द्रष्टव्य हैं ।

ब्राह्मण की प्रतिग्रहादि वृत्ति के स्थान पर दूतत्व-रूप पाक्षिक जीविका और उसके साथ सभासद्, मन्त्री, सचिव, इत्यादि के पद सब सम्मानित राज-सेवा-कार्य ब्राह्मण-कर्म वताए गए हैं। इसी प्रकार वृहत्पराशरोक्त लेखक अमात्य मन्त्री दूत प्राड्विवाक इत्यादि के पद भी हैं । पुरोहित जिस प्रकार राजा के शान्तिक, पौष्टिक, इत्यादि या जनकर्म कराता है उसी प्रकार प्राड्विवाक राजसभा के कर्मकाण्ड का याजक होता है ।

यह प्राड्विवाक क्षेमेन्द्रकृत नर्ममाला में 'आस्थान-भट्ट' अथवा 'अधिकरण-द्विज' पद-विशेष वाला "कायस्थ" माना गया है ।

"कल्पतरु" नामक प्रसिद्ध धर्मशास्त्र-निवन्धकार 'वास्तव्य-जातीय सन्धिविग्रहिक (सन्धि-विग्रह-मन्त्री, सन्धि-विग्रह-कायस्थ) 'भगवान्

लक्ष्मीधर 'आचार्य' ने, जो कन्नौज और काशी के गाहडवाल महाराज गोविन्दचन्द्र (१११४—११५६ ई०) के मन्त्री थे और जिनके पिता 'शुद्ध-कायस्थ-वंश्य' हृदयधर जी उन महाराज के पितामह महाराज चन्द्रदेव के 'कमोली' इत्यादि अनेक ताम्रपत्रों (१०६४—११००ई०) के लेखक थे, अपने उक्त निबन्ध के "शान्ति-काण्ड" की प्रतीक में अपना परिचय यों दिया है—"यस्मिन् विभ्रति विश्वपालन-महायज्ञ द्विजन्मोत्तमे" (पीटर्सन की संस्कृत-पोथियों की खोज १८८२—८३, पृष्ठ १११)—"जिस द्विजन्मोत्तम' के 'विश्व-पालन'-रूप 'महायज्ञ' का भार धारण करते हुए।" इसका भाव यह है कि ब्राह्मण के नाते वास्तव्य कायस्थ-कुलोत्पन्न लक्ष्मीधर (सन्धि-विग्रह-मन्त्री) का 'विश्व-पालन-कर्म' ही महायज्ञ(याजनकर्म)-स्थानीय है। मन्त्री होते हुए पौरोहित्य-रूप याजन-कर्म न हो सकने पर भी तत्स्थानीय 'विश्व-पालन' को ही महायज्ञ का रूपक देकर ग्रन्थकार को यहां अपने कुल के अधिकार-रूप में ही 'याजन-कर्म' का सङ्केत करना अभीष्ट है।

इस प्रकार से याजन-कर्म भी वृत्ति-रूप से इन लोगों में प्राचीन समय से चला आता था जिसके छुट-पुट उदाहरण पर-काल में भी मिलते है और यही कारण है कि शेरिङ्-कृत "हिन्दू जातियाँ" जिल्द २—'बम्बई अ ाते की' (पृष्ठ १८१—१८२), तथा 'कच्छ की' (पृष्ट २४१) एवम् १९०१ ई० की जन-गणना—जिल्द १—रिज़ले-कृत परिशिष्टों के पृष्ठ ८९—९० और जिल्द ११, बम्बई, भाग ५ रिपोर्ट (पृष्ठ ५१) के अनुसार अब तक कहीं-कहीं (महाराष्ट्र,कच्छ, इत्यादि में) कायस्थ लोग पौरोहित्य कर्म भी करते आ रहे हैं। और कुछ कायस्थ-प्रभुओं ने जन-गणना (१९०१) में अपने आप को "ब्राह्मण-प्रभु" लिखवाया था।

(१३) अध्यापन-वृत्ति

दूसरा अध्यापन-कर्म है। 'अध्यापन' शब्द से मुख्यतः वेदवेदाङ्गादि विद्याओं का पढ़ाना अभीष्ट है। परन्तु श्रुति-स्मृतियों का जब तक साम्राज्य था तब तक प्राचीन वर्णाश्रम-धर्म अक्षुण्ण चलता रहा और बौद्ध जैन इत्यादि धर्मों के उद्‌भव और प्रचार के कारण अध्यापन

व्यवस्था में जो परिवर्तन पीछे से हुए उनकी तब तक (अर्थात् इन धर्मों की उत्पत्ति से पूर्व) कोई आवश्यकता नहीं हुई थी। उपनिषदों के काल के आगे-पीछे, ग्रन्थों के विषय-ज्ञान (theoretical knowledge) की अपेक्षा, वृत्त (चारित्र्य और धर्मानुष्ठान-चर्या) पर अधिक बल दिया जाता था। ऐसी स्थिति में गुरु श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ ही होते थे। जो ब्रह्म-ब्राह्मणत्व की साक्षान्मूर्ति होते थे और उन के गुरु-कुलों का उद्देश्य भी मुख्यतः अपने जैसे ब्राह्मण तैयार करने का ही रहता था जिसकी पूर्ति नैष्ठिक ब्रह्मचारियों से, अथवा, प्रथम तीन आश्रमों का यथावत् क्रमशः पालन कर के त्याग (निवृत्ति)-मार्गी बनने वालों से, होती थी। सब उपनिषदों और गीतादि का चरम लक्ष्य यही ब्राह्मीस्थिति ब्रह्म-प्राप्ति वा ब्राह्मणत्व था। व्यक्ति और समाज के अस्तित्व की चरितार्थता इसी में होती थी। लौकिक विद्याएं, उद्योग, यहाँ तक कि साम्राज्य तक, इसी उद्देश्य-पूर्ति के अविरोध में चलते थे, तथा मोक्ष, धर्म और धर्माविरुद्ध अर्थ और काम चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति का द्वार शक्ति-समृद्धि-शाली राष्ट्र और व्यक्ति के आगे खुला रहता था। भागवतादि पुराणों से भी यही चित्र सामने आता है। बृहदारण्यकोपनिषद् का लक्ष्य था—"स ब्राह्मणः केन स्यात् ?"

अतः अध्यापन सदा से ब्राह्मण का ही अधिकृत क्षेत्र होता था। बौद्ध धर्म का प्रभाव राजाओं और उनके शासन-सूत्र में अधिकृत ब्राह्मणों पर (जो आगे चल कर 'कायस्थ' कहलाए) अधिक पड़ा और इसी प्रकार जैन धर्म के प्रभाव में अधिकांश वैश्य आ गए। और यों तो चारों वर्णों की बड़ी जनता प्राचीन वैदिक धर्म से दूर हट गई तथापि विद्या-पठन-पाठन बौद्धकाल में भी अधिकतर ब्राह्मणों में ही रहा। बौद्ध हो जाने पर भी ब्राह्मणत्व की छाप इन बौद्ध विद्वानों और धर्म-प्रचारकों से सर्वथा दूर न हो सकी जैसा अश्वघोष "ब्राह्मण-श्रमण" न्यायादि से भी विदित होता है। नालन्दा का विश्वविद्यालय बहुत बड़ा विद्या-केन्द्र था परन्तु वहाँ भी अध्यापक लोग ब्राह्मणों अथवा कायस्थों में से ही बौद्ध धर्म में गए हुए लोग थे। "सम्बन्धोप-

देश" नामक व्याकरण-ग्रन्थ एक कायस्थ बौद्ध की ही रचना है। कारिका और वृत्ति दोनों का प्रणेता चङ्गदास (बौद्ध-कायस्थ) था। उस ने कारिका की वृत्ति में लिखा है—"बौद्धः प्रायेण कायस्थ एव" कि बौद्ध अधिकतर कायस्थ ही होता है। कितने ही बौद्ध ग्रन्थकार तथा आचार्य कायस्थ थे। इस प्रकार से अध्यापन-कार्य, और पुस्तकें लिखने का कार्य, दोनों ही, बौद्ध होने से पूर्व और पश्चात् भी कायस्थ-पदों से रिटायर्ड वृद्धों का प्रधान जीविका-साधन (वृत्ति) बनता था, क्योंकि मूलतः ब्राह्मण होने के नाते 'कायस्थ-कुल' भी वैसे ही सब वर्णों से अधिक विद्यावान् होते थे जैसे अन्य (षट्कर्मा) ब्राह्मण। एवम् कायस्थों के बालकों का अध्ययन-काल (बाल-पन) और तीसरा-पन (वार्धक्य) बहुत कुछ अन्य ब्राह्मणों का जैसा ही होता था। मध्य-काल में वृत्ति-भेद के कारण अन्य ब्राह्मण लोग कायस्थों के अध्यापन-कार्य को आदर्श से कुछ गिरा हुआ मानने लगे थे। परन्तु इतने पर भी अध्यापन-कार्य प्राचीनकाल और मध्यकाल में भी उसी प्रकार से कायस्थों के मुख्य अधिकार के अन्तर्गत समझा जाता था, और फलतः १९वीं शताब्दी के अन्त तक रहा है। परन्तु आज तो अध्यापन-कार्य का अर्थ केवल साक्षरता की अथवा किसी विषय-विशेष के तस्थ ज्ञान की शिक्षा देना-मात्र रह गया है और उस में परीक्षा-विशेष की उत्तीर्णता ही अधिकार-प्रदायिनी मानी जाती है, न कि कुल-परम्परा से आई हुई सदाचरण निष्ठ-ठोस विशेषज्ञता, जो ब्राह्मणों अथवा कायस्थों के अध्यापनाधिकार का सदा से चला आता हुआ मापदण्ड था। आगेदिए गए उदाहरणों की भित्ति (वस्तुस्थिति) समझने के लिए इतनी भूमिका आवश्यक है।

नालन्दा-विश्वविद्यालय के बौद्धकालिक कायस्थ अध्यापकों के अनेक उदाहरणों के पश्चात्, १२वीं शताब्दी के जैन इतिहास का एक पृष्ठ रूप यह उदाहरण "प्रभावकचरित" से यहां दिया जा रहा है—

यह जैन संस्कृतग्रन्थ ४ विभिन्न हस्तलिखित पोथियों के आधार पर हमारे समान-धर्मा मित्र स्वर्गीय पं० हीरानन्दशास्त्री (हिन्दी

के प्रसिद्ध वर्तमान साहित्यकार 'अज्ञेय' जी के पूज्य पिताजी) के द्वारा सम्पादित होकर १९०९ ई० में निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित हुआ था। यह चान्द्रगच्छ के प्रद्युम्न-सूरि के शिष्य प्रभावचन्द-सूरि-कृत संवत् १३३४ (वेदानलशिखिशशधरवर्षे) = १२७७ ई० की रचना है (पृष्ठ ३४९ श्लोक २२ द्रष्टव्य है)। जैनों के प्रसिद्धतम आचार्य हेमचन्द्र सूरि इसके अन्तिम प्रबन्ध का विषय हैं। इसके पृष्ठ ३४७, श्लोक ८४८–८४९ के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र का जन्मसंवत् ११४५, त-संवत् ११५०, प्रतिष्ठा-संवत् ११६६ (रसषट्केश्वरे), और देह-त्याग का संवत् १२२९ है।

अणहिल्लपुर-गुजरात के राजा सिद्धराज ने (पृष्ठ ३०१ श्लोक ८०–८४ में) आचार्य जी से प्रार्थना की कि "कलापक" (कातन्त्र) नामक प्रचलित व्याकरण में शब्दों की सिद्धि यथेष्ट नहीं की गई है और पाणिनि का व्याकरण वेद का अङ्ग है अतः उसके विषय में ब्राह्मण असूया रखते हैं, इसलिए आप नया व्याकरण रचिए। आचार्य हेम-चन्द्र जी बोले कि आपने तो हमें हमारे ही कार्य का स्मरण कराया है। परन्तु व्याकरण आठ हैं और उन आठों व्याकरणों की पोथियां कश्मीर में ही हैं। पहले उनको अपने आदमी भेज कर मंगाइये, तब सम्यक् प्रकार से शब्द-शास्त्र की रचना की जा सके (श्लोक ८५–८७)। महा-राज ने प्रवरपुर (श्रीनगर) से उस व्याकरण-समूह को मंगवाया और आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने उनका पर्यालोचन करके "सिद्धहेम" नामक नवीन शास्त्र रचा (पृष्ठ ३०२ श्लोक ९६)। राजाज्ञा से ३०० लेखक बुलाए गए, उनसे इस नए व्याकरण की प्रतियां लिखाई गईं और पार-सीक (फ़ार्स = ईरान) से कामरूप (असम) तक तथा नेपाल से सिंहल तक सब देशों में प्रचारित की गईं और २० पुस्तकें कश्मीर भेजी गईं (श्लोक १०४–११०)। "काकलो नाम कायस्थ-कुल-कल्याणशेखरः। अष्ट-व्याकरणाध्येता प्रज्ञा-विजित-भोगिराट्॥ ११२॥ प्रभुस्तं दृष्ट-मात्रेण ज्ञाततत्त्वार्थमस्य च। शास्त्रस्य ज्ञापकं चाशु विदधेऽध्यापकं तदा ॥११३॥ प्रतिमासं स च ज्ञान-पञ्चम्यां प्रच्छनां दधौ। राजा च

तत्र निर्व्यूढान् कङ्कणैः समभूपयत् ॥ ११४ ॥ निष्पन्ना अत्र शास्त्रे च दुकूल-स्वर्णभूषणैः । सुखासनातपत्रैश्च भूपालेन नियोजिताः ॥ ११५ ॥"

कायस्थ-कुल का माङ्गलिक मस्तक-भूषण काकल-नामक था जिसने आठों व्याकरणों का अध्ययन किया था और बुद्धि में शेष (अथवा पतञ्जलि) से भी अधिक था ॥ ११२ ॥ तब एक दृष्टि डालने भर से इस शास्त्र का तात्त्विक अर्थ समझ चुके हुए उस को [आचार्य] प्रभु ने अविलम्ब इस का ज्ञापक और अध्यापक बना दिया ॥ ११३ ॥ और वह प्रतिमास ज्ञान-पञ्चमी को परीक्षा लेता था और उसमें उत्तीर्णों को स्वर्ण-कङ्कणों से सम्यक् भूषित किया करता था ॥ ११४ ॥ और शास्त्र में सिद्ध लोगों को भूपाल रेशमी वस्त्रों स्वर्ण-मुद्राओं,भूषणों,सुखासनों, और छत्रों से संयोजित करता था ॥ ११५ ॥ उक्त "प्रभावक-चरित" अब सिङ्घीजैन-ग्रन्थमाला ग्रन्थाङ्क १३ में भी प्रकाशित हो चुका है ।

ऐन्द्र चान्द्र आपिशल काशकृत्स्न शाकटायन, इत्यादि आठों व्याकरणों का अध्येता काकल कितना बड़ा व्याकरण का पण्डित रहा होगा जिसने वेदाङ्ग-रूप पाणिनि-व्याकरण के साथ अन्य सात व्याकरणों का भी पूर्णज्ञान प्राप्त किया था और जिसकी उपमा पतञ्जलि से दी गई है । ब्याकरण का इतना बड़ा विशेषज्ञ दूसरा कोई हेमचन्द्राचार्य को नहीं मिला, तब तो इसी को अपने व्याकरण का अध्यापक चुना और अपने विद्या-संस्थान में नियुक्त किया ।

दूसरा उदाहरण १४वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और १५वीं के पूर्वार्ध में होने वाले मैथिल कवि विद्यापति कृत संस्कृत-पुस्तक "पुरुष-परीक्षा" के द्वितीय परिच्छेद में वर्णित "पिशुन–कथा" में मिलता है । कथा-विषयका समय महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य और मन्त्री राक्षस का रखते हुए विद्यापति यह भी द्योतित करना चाहते हैं कि कायस्थ यद्यपि अति-प्राचीन काल से अध्यापनवृत्ति के अधिकारी हैं तथापि याजकवृत्ति वाले ब्राह्मणों की विरादरी वाले अध्यापकों की अपेक्षा कायस्थ से अध्यापित विद्यार्थी की बुद्धि उतनी विकसित नहीं होती है जितनी उनके सजातीय

ब्राह्मण के पढ़ाए हुए की, और इस बात को अन्य बातो के साथ क्षपणक (जैन) के मुख से कहलवाया है। विद्यापति के समय से पहले हो मिथिला में कर्ण-कायस्थों के उपनयन के अवसर पर उपनयन का सब कृत्य तो होता था परन्तु यज्ञोपवीत पहनना छुड़वा दिया जाने लगा था, क्योंकि मैथिल ब्राह्मण स्वयं राजमन्त्री इत्यादि पद । ग्रहण करके कायस्थों को प्राचीन सम्मानित पदों से अ-पद-स्थ करने के लिए उन्हें शूद्र-सम प्रसिद्ध करने लगे थे। यद्यपि सत्य हज़ार छिपाने पर भी कहीं-न-कहीं से खुल ही जाता है, जैसा कि इन्हीं विद्यापति की १३८० ई० के आस-पास लिखी मैथिली-पुस्तक "कीर्तिलता" (नागरीप्रचारिणी ग्रन्थमाला संख्या ३६) पल्लव २, पृष्ठ ३२ के—"बहुल बह्मण बहुल काअथ (कायत्थ) राजपुत्त-कुल बहुल, बहुल जाति मिलि वइस चप्परि" इन शब्दों में प्रदर्शित जातियों की सामाजिक स्थिति के निर्देश-क्रम से स्पष्ट हो जाता है, और यही क्रम मिथिला में आज भी चलता है। सामाजिक विषयों में मैथिल ब्राह्मणों और [कर्ण] कायस्थों का चोली-दामन का जैसा साहचर्य (साथ) है, वैसा और किसी जाति से नहीं है। तथापि "पिशुन-कथा" में कायस्थ को हेयरूप से चित्रित किया गया है। कथा यों है—

एक अनाथ ब्राह्मण शिशु था। उसको सोमदत्त नामक बनिए ने अपने धन से पाला-पोसा था, ब्राह्मण ने संस्कार (उपनयन) कराया था और कायस्थ ने पढाया था। एक वार उसे कायस्थ-गृह में अध्ययन करता हुआ देखकर किसी क्षपणक ने यह पद्य पढा—"हीन-द्विजकुले जातो वणिगन्नेन वर्धितः। लब्धविद्यश्च कायस्थात् क्षुद्रबुद्धिर्भविष्यति।।" 'हीन द्विजकुल में उत्पन्न हुआ, वनिए के अन्न से वर्धित हुआ और कायस्थ से विद्याओं को प्राप्त हुआ [यह बालक] क्षुद्रबुद्धि-वाला होगा। आगे लम्वी कथा भर में उसका नाम 'क्षुद्रबुद्धि' ही आया है।

यदि आजकल के मैथिलों के समान पहले के लोग भी, जिनमें यह कथा प्रचलित हुई होगी, कायस्थो को शूद्र समझते, तो शूद्र कैसे विद्याएँ सीख कर ब्राह्मण बालक को पढा सकता? कथा का अभिप्राय कुछ भी हो, पर इससे कायस्थों का अध्यापन में सर्व-सम्मत अधिकार त

प्रमाणित होता ही है। इनमें पहला उदाहरण जैनाचार्य की, अपने समय के सर्वोत्तम वैयाकरण कायस्थ-पण्डित-विषयक, गुणग्राहकता का, और दूसरा मैथिल-विप्रों की, अपने निकटतम कायस्थों के प्रति मनोवृत्ति का, निदर्शक है। दोनों ही प्रातःकाल के बड़े नक्षत्रों के समान कायस्थों के प्राचीन-कालिक अध्यापनाधिकार के प्रतीक हैं॥ इण्डियाआफ़िस की संस्कृत-पोथियों की सूची भाग २ पृष्ठ ५३६ (पुस्तकसंख्या १६८०) से ज्ञात होता है कि ठाकुर श्रीपाण्डे राघवदास कायस्थ ने अकबर के समय (संवत् १६६१) में "समयालोक" नाम की पोथी अपनी 'गौर-करल' ग्राम-स्थित "शाला" में लिखी थी। शालाओं के अध्यापक "पाण्डे" कहलाते थे। एक उद्धरण मुंशी कालीप्रसाद कुलभास्कर-कृत कायस्थ-एथ्नालोजी (हिन्दीसंस्करण १९०६ पृष्ठ ६४) से यहाँ देते हैं—"कायस्थ-जाति के लोग जो पढ़ाने का काम करते हैं "गुरु" कहलाते हैं ....टि० २—जो काम पण्डितों के सुपुर्द था इस जाति के लोग बहुत करते हैं और "गुरु" की उपाधि (पद) जो ब्राह्मणों ही के लिए है उन कायस्थों को भी दी जाती है जो यह काम करते हैं —(मिस्टर नेस्फ़ील्डकृत पश्चिमोत्तर-देश, अब 'उत्तर-प्रदेश', की जातियों का वर्णन, पृष्ठ ६१) ॥ मुंशी पन्नालाल श्रीवास्तव्य (खरे) जबलपुर-निवासी ने प्रायः ३५-४० वर्ष पूर्व यह विवरण लिख भेजा था—

"अमोड़ा के पाण्डे"—ये लोग अमोड़ा से चल कर मैहर स्टेट में बसे। वहां नीलकण्ठ वैद्यराज आयुर्वेद पढ़ाते थे और राजदर्बार में वैद्य थे। वहाँ एक बगीचा इनके नाम से अब तक मौजूद है। फिर मध्यप्रान्त में कई जगह फैल गए। रीवां स्टेट में भी रहे। ये लोग संस्कृत के विद्वान् थे। इनके आचरण व कर्म ब्राह्मणों के थे और अब भी इनके कुल के वंशीधर वैद्यराज जबलपुर में मौजूद हैं। इस वक़्त उनके ख़ानदान में १६ आदमी हैं। इनके पुरखे हमेशा संस्कृत पढ़ाते रहे और अब इनके ख़ानदान में बहुत आयुर्वेद का काम होता है। कुल कर्म इनके ब्राह्मणों के हैं। ये लोग मरहटी अमलदारी में

अमलदारी में राजाओं के वैद्य रहे। यह घराना "राज-

वैद्य" का कहलाता है।

प्रस्तुत निवन्ध-कर्ता के मंझले बाबा श्रीमान् रामप्रसादजी ऐसे ही अध्यापक "गुरु" थे और प्रथम श्वशुर श्रीमनोहरलाल जी का वंश "सकरावे के राजवैद्य" नाम से प्रसिद्ध था, जिनके भतीजे श्री-दीवानवहादुर (महात्मा हरे कर्नल) का, (जो श्रीरूपकला जी महाराज के विशेष कृपा-पात्र थे), साकेतवास अयोध्याजी में अभी १२-१३ जनवरी १९६४ को हुआ है।

"धर्मराज-जीनियालोजी" के प्रणेता पण्डित ललिताप्रसाद जी चित्रांशी शर्मा (नैगम देहलवी) ने भी अपनी इस पुस्तक में "अध्यापन" का कार्य प्राचीन परम्परा से कायस्थों में भी अन्य ब्राह्मणों के समान चला आने से कायस्थों को ब्राह्मणवर्ण माना है।

"कायस्थ-वंशावली" (क्वीन प्रेस, इलाहाबाद-१९०२) के पृष्ठ १७ पर मुंशी बालकृष्णलाल असिस्टैण्ट-इन्स्पेक्टर शिक्षाविभाग बुन्देलखण्ड ने भी, चित्रांशी जी के समान, वेद पढ़ना-पढ़ाना, दान देना, यज्ञ करना, कायस्थों का धर्म माना है, जिसके साथ उन्होंने राजकाज संभालना और प्रजा का पालन करना भी उसी सांस में जोड़ दिया है। सर्वथा "अध्यापन" कार्य तो सदा से निर्विवाद रूप में कायस्थों के अधिकार (योग्यता) के अन्तर्गत चला आ रहा है।

जनता की वर्तमानकालिक धारणा को दृष्टि में रखते हुए श्रीशिलीमुख जी ने "चाँद" अगस्त १९२५ (पृष्ठ २४२) पर स्व-रचित 'रहस्य-भेद' के अन्तर्गत ये शव्द प्रकाशित किए थे -"वर्तमान समय में पढ़ाने का काम ब्राह्मण और कायस्थ ही अच्छा कर सकते हैं"

"ब्राह्मणोत्पत्तिमार्तण्ड" और "जाति-भास्कर" में उद्धृत हमारे द्वारा पूर्वोद्धृत वचन, तथा हरिदास-विरचित "लेखक-मुक्तामणि" से "शब्दकल्पद्रुम"-गत 'कायस्थ' शब्द की व्याख्या में उद्धृत-"सुधियः सर्व-शास्त्रेषु काव्यालङ्कारबोधकाः" के अनुसार कायस्थ, पुराणों के 'पाठक' स्मृतियों के 'शंसक' एवं स्मृति-पाठक और काव्यालङ्कार के बोधक (अध्यापक) माने गए हैं। इस से भी इनका अध्यापन-कर्म प्राचीन-पर-

म्परागत सिद्ध होता है।

'मन्त्री' इत्यादि कायस्थ-पदों पर रहते हुए, सामान्यरूप से, इन लौकिक ब्राह्मणों को वैदिक ब्राह्मणों के समान याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह से जीविका चलाने का कोई प्रसङ्ग ही नहीं आ सकता था। और कोई फिर भी दोनों मार्गों से जीविकोपार्जन करना चाहे तो यह उसकी आर्थिक तृष्णा और दूसरों का हक़ मारने का ही लक्षण है न कि कोई बड़ा प्रशंसनीय कार्य। अतः राजकाज की सत्ता के साथ कायस्थ इन ब्राह्मण-जीविकाओं से सामान्यतया पृथक् रहते थे। परन्तु वर्णधर्म के अनुसार इनके अधिकारी होने के कारण विशेष स्थिति में वे इन वृत्तियों को भी स्वीकृत करते ही थे। इसी के निदर्शक उदाहरण और प्रमाण इन उप-शीर्षकों में दिए जा रहे हैं। इनमें से याजन और प्रतिग्रह तो किसी न किसी रूप में पदस्थ कायस्थों के भी कर्मों में आते देखे जाते हैं। परन्तु अध्यापन विशेषतः स्व-स्वरूप में वस्तुतः अ-पदस्थ (Retired) जीवन-काल में स्वाभाविकतया आता था, इसी से अध्यापन की अक्षुण्ण परम्परा (unbroken tradition इन में सदा से अब तक चली आ रही है।

इन कायस्थों की विद्वत्ता किस उच्च कोटि की होती थी जिससे इन का अध्यापनाधिकार सिद्ध हो सकता है उसका यथोचित विस्तृत उपलब्ध-प्रमाण-पूर्वक पूर्ण वर्णन तो एक विशाल स्वतन्त्र ग्रन्थ का ही विषय हो सकता है। तथापि उसकी थोड़ी-सी बानगी यहां प्रदर्शित कर देना आवश्यक है।

महाराज गण्ड के सर्वाधिकारी (महामन्त्री) वास्तव्य-वंशीय कायस्थ ठक्कुर जाजूक का वर्णन पहले हो चुका है। उसकी विद्वत्ता का वर्णन इन शब्दों में मिलता है—"विद्याश्चतुर्दश कलाः सकलाः समीयुः पद्माभिराममिव वल्लभमायताक्ष्यः।"—कमलापति के समान अपने प्रिय उस (जाजूक) को चौदहों विद्याएं और सकल कलाएँ सम्यक् प्राप्त हुई थीं। चौदह विद्याएं ये हैं—"पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्रा-ङ्ग-मिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥"

पुराण, न्याय, पूर्व और उत्तर मीमांसा, धर्मशास्त्र, तथा (छहों) अङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दःशास्त्र, ज्योतिष) के सहित [चारों (ऋग्-यजुः-साम-अथर्व)] वेद—ये १४, विद्याओं के और धर्म के स्थान हैं।' ऐसा महाविद्वान् होने से जाजूक की उपमा ब्रह्मा जी से दी गई है। फिर "तत्सन्ततौ सकल-वाङ्मय-पारदृश्वा" उस की सन्तति में [महेश्वर-नामक पुत्र] सकल वाङ्मय का पारदर्शी विद्वान् हुआ। आगे शास्त्र और अस्त्रविद्या दोनों में निपुण रुचिकर, और उसका पुत्र गोपति, हुआ जिसमें लक्ष्मी और सरस्वती दोनों अविरोध से निवास करती थीं, और जो सज्जनों द्वारा सेव्य और वन्दनीय तथा 'नृपति-प्रपूज्य' था।

उक्त वंश का सुविस्तृत वर्णन एपि० इ० जिल्द १ के पृष्ठ ३३०-३३८ तथा जिल्द ३० के पृष्ठ ८८-६० में प्रकाशित हुआ है।

जिल्द १ के ही पृष्ठ ४२-४७ में एक दूसरे वंश की ये विशेषताएं मिलती हैं—वास्तव्यवंश के चन्द्रमा-रूप गोविन्द-नाम कृती (पण्डित) चेदि-मण्डल से तुम्माण देश आए। उनके ज्येष्ठ पुत्र मामे राजसभा के भूषण, पण्डितकुल-कमलों के सूर्य, निज-निर्मल-कुल के अलङ्कार-हार के समान और शिव के परम भक्त थे, कनिष्ठ पुत्र श्रीराघव गुणों के सागर थे। श्रीमामे के पुत्र श्रीरत्नसिंह कवि, वैशेषिक और न्याय शास्त्रों के विद्वान्, [शास्त्रार्थ में] विपक्षी और उन्मद वादियों रूपी [गज] वृन्दों का सिंह के समान उत्पाटन करने वाले, शील आचार विवेक और पुण्य के आश्रय, एवं वास्तव्य-वंश-रूप कमलाकर के भानु, अनेक प्रशस्तियों के रचयिता थे। रत्नसिंह के आत्मज देवगण, अशेष आगम-शास्त्रों के विशुद्ध विज्ञान के धनी, काव्यों में भव्य-बुद्धि वाले, सत् (वेदशास्त्रानुकूल) तर्क-रूपी सागर के पारगामी, दण्डनीति में माने हुए भार्गव (उशना, शुक्र), छन्दः-शास्त्र, अलङ्कार, शब्द (व्याकरण)-शास्त्र, काम और कलाओं के शास्त्र अथवा कामकला के शास्त्र रूपी कमलों के विकासक सूर्य, अनेक प्रशस्तियों के रचयिता थे। इनके पुत्र जगत्सिंह हुए जो सिंह के समान अज्ञानान्धकार की सन्तति-रूपी गज-कुम्भों (हस्तिमस्तक-स्थलों) के विदारक हुए—(पृष्ठ ४७)—"वास्तव्य-वंश-शुभ्रांशु-र्गोविन्दश्चेदि-

मण्डलात् । कृती काल-क्रमेणासौ देशं तुम्माणमागतः ॥८॥ पुत्रस्तस्य जनानुरागजलधि-र्भू मृत्सभाभूषणो ज्यायान् 'पण्डित-पुण्डरीक-तरणि'-र्ममिऽभिधानोऽभवत् । यो धात्री-तिलको निजामलकुला-लङ्कार-हारोपमो विख्यात-स्त्रिपुरान्तकैकचरणा-म्भोजैकभृङ्गो भुवि ॥९॥ भ्राता श्रीराघवोऽमुष्य कनीयान् गुणसागरः । नागरो भुवनाभोग-भूषा पूषोपमो बभौ ॥१०॥ श्रीमामेतनयः समस्तजगती-विस्तीर्ण-कीर्ण-स्फुरत्-कुन्देन्दुद्युति-कीर्ति-सन्तति-लता-व्यासक्त-दिङ्मण्डपः । राजत्युन्मद-वादिवृन्द-दलनो लीला-विहारः श्रियः शीलाचार-विवेक-पुण्य-निलयः श्रीरत्नसिंहः कविः ॥११॥...देवगणस्तनूजः ॥१३॥ पीयूषद्रव-सान्द्र बिन्दु-वसति-र्यस्यास्यवाक्चन्द्रिका विद्वच्चक्र-चकोर — चञ्चुपुटकैरापीयमानानिशम् । ......॥१५॥ अबोध-ध्वान्त-सन्तान-करिकुम्भ-विदारणः । जगत्सिंहोऽस्य तनयः सिंहवद् भुवि राजते ॥१९॥ चक्रे देवगणो धाम बिल्वपाणि-पिनाकिनः । साम्वाग्रामे तुषाराद्रि-शिखराभोग-भासुरम् ॥२४॥ निःशेषागम-शुद्ध-बोधविभवः काव्येषु यो भव्य-धीःसत्-तर्काम्बुधि-पारगो भृगुसुतो यो दण्डनीतौ मतः । छन्दोऽलङ्कृति-शब्द-मन्मथ-कला-शास्त्राब्जचण्डद्युति-श्चक्रे देवगणः प्रशस्तिममलां श्रीरत्नसिंहात्मजः ॥२६॥" (तथा मल्लार-शिलालेख, पृष्ठ ४२) "काश्यपीयाक्षपादीय-नयसिद्धान्त-वेदिना । विपक्ष-वादि-सिंहेन रत्नसिंहेन धीमता ॥२३॥ श्रीराघवाङ्घ्रिकमलाम्बुधराभिषेक-लब्धोदय प्रततशाख-महीरुहेण । वास्तव्यवंश-कमलाकरभानुना मामे-सुतेन रचिता रुचिरा प्रशस्तिः ॥२४॥"

इसी प्रकार उसी एपि०इ० जिल्द १, पृ० १४६ इत्यादि-वर्णित गौड-वंश के कायस्थ-पण्डितों की विद्वत्ता की कुछ छटा अवलोकनीय है—'प्रख्यात कुल और शील वाले उज्ज्वल बुद्धि वाले और पद-विद्या (व्याकरण-शास्त्र) के विद्वान् कायस्थ यशःपाल ने कृतयुगीय आचरण के समान यह प्रशस्ति का विन्यास लिखा है, जिस में वर्ण (स्वर-व्यञ्जन) कहीं सङ्कीर्ण (एक-दूसरे में गड़बड़ाए अथवा अशुद्ध, नहीं (प्रत्युत पृथक् पृथक् सुवाच्य रूप से) स्थित हुए हैं [कृतयुग में भी ब्राह्मणादि वर्णों का सङ्कर नहीं होने पाता है] और न कहीं सपत्नता से कलुष होकर स्थित हुए हैं (कि लिखा कुछ जाय और

पढ़ा कुछ और जाय) [कृतयुग के आचार-व्यवहार में भी ब्राह्मणादि वर्णों में सापत्न्य, परस्पर-विरोध, की कलुषता नहीं होती है]'—"न सङ्कीर्णा वर्णाः क्वचिदिह न सापत्न्यकलुषाः स्थिताः कायस्थेन प्रथितकुलशीलोज्ज्वलधिया । यशःपालेनायं विदितपदविद्य ेन लिखितः प्रशस्तेर्विन्यासः कृतयुग-समाचार-सदृशः ।।" (पङ्क्ति ३१) 'गौड जयपाल (रूपी चन्द्रमा) ने, जो राजा जयदेववर्मा का वैसे ही "कायस्थ" (शासन में अन्तरङ्ग अधिकारी) है जैसे चन्द्रमा ईश (शिव) के मस्तक रूप 'काय' (अङ्ग) में स्थित है, इन कुमुदों (श्वेत कमलों) के आकार वाले अक्षरों को वैसे ही प्रोल्लिखित किया (लिखा) जैसे चन्द्रमा कुमुदों को खिला देता है। इस गौड कायस्थ जयपाल को विद्वान् लोग उसी प्रकार से सादर वन्दन (प्रणाम) करते रहते हैं जैसे शीतकिरण (चन्द्रमा) को । इसका कर (हाथ) [लिखने में] उसी प्रकार सर्पण करता (शीघ्र चलता) है जैसे चन्द्रमा के कर (किरण) सर्वतः सर्पण करते (छिटक-फैल जाते) हैं । यह [६४] कलाओं का वैसे ही धारण करने वाला है जैसे चन्द्रमा [१६] कलाओं को धारण करता है । यह साहित्यरूपी सागर का चन्द्रमा के समान ही बन्धु है (अर्थात् जैसे चन्द्रमा अम्बुधि के उल्लास का कारण है ऐसे ही जयपाल साहित्यशास्त्र के उल्लास का कारण है) । जैसे चन्द्रमा उद्धत-तमः (महान्धकार) का नाश करता है वैसे ही यह भी उद्धत-तमः (घोर अज्ञान) का नाश करता है । और चन्द्रमा की चन्द्रिका के समान ही इसकी भी द्युति (प्रतिभा) अनिन्द्य (स्तुत्य, प्रशस्य) है'—"विद्वद्भि-र्जयपाल-शीतकिरणो-ऽमून्यादराद् वन्दितो गौडः प्रोल्लिखदक्षराणि कुमुदाकाराणि सर्पत्करः । कायस्थो जयदेववर्म-नृपतेरीशस्य विभ्रत्कलाः साहित्याम्बुधिबन्धुरुद्धततमो रुन्धन्ननिन्द्य-द्युतिः ।।" (पृ० १४७, प० ३४) ।। 'जयगण के पुत्र और संस्कृत-भाषा के विद्वान् गौड करणिक (ब्रह्मकायस्थ) जद्ध ने रुचिर अक्षरों वाली प्रशस्ति कौतुक से लिखी'—(पृष्ठ १२९)—"संस्कृत-भाषा-विदुषा जयगण-पुत्रेण कौतुकाल्लिखिता । रुचिराक्षरा प्रशस्तिः करणिक-जद्धेन गौडेन ।।"

एपि० इ० जिल्द २६, पृष्ठ ५०७—"निर्व्यूढः कविपद्धतौ धुरि सतां बद्धास्पदः सन्ततं वेदार्थाधिगमप्रसादितमतिः साहित्यवादे सुधीः । आसीद्

विस्तृतकीर्तिरक्षपटलप्राप्तप्रतिष्ठः श्रियां लीलागारमनन्तपालविबुधोगौडान्ववायोद्भवः ।।४०।।"—'गौडकुलोद्भव पण्डित अनन्तपाल कवि-मार्ग में पारङ्गत, निरन्तर वेदार्थ-ज्ञान से निर्मल मति वाले, साहित्यवाद में सुधी, और 'अक्षपटल (रिकर्ड-मुहकमे) की प्रतिष्ठा पाए हुए थे ।।' पुनः गौडवंश के एकमात्र तिलक लक्ष्मीधर का तनय, विद्यावानों में श्रेष्ठ, और कवि-चक्रवर्ती, गदाधर-नामक था । वह परमर्दिदेव का सन्धि-विग्रह-महामन्त्री हुआ । उसके पुत्र कवीन्द्र देवधर ने यह अनुपम प्रशस्ति रची । और इसके अनुज धीर (पण्डित) बालकवि धर्मधर ने कुतूहलपूर्वक लिखी'—(पृष्ठ २११) "गौडान्वयैकतिलकस्य गदाधराख्यो लक्ष्मीधरस्य तनयः कविचक्रवर्ती । विद्यावतां स परमः परमर्दिदेव-सन्धान-विग्रह-महासचिवो बभूव ।। तस्यात्मजो देवधरः कवीन्द्रः प्रशस्तिमेतामतुलां चकार । अस्यानुजो धर्मधरश्च धीरः कुतूहलाद् बालकवि-र्लिलेख ।।" (जिल्द ११, पृष्ठ २५) 'श्रीमद्गोविन्दचन्द्र महाराज की आज्ञा से इस ताम्र (शासन) को "सर्व-शास्त्र-वित्" कायस्थ सुरादित्य ने लिखा' "श्रीमद् गोविन्दचन्द्रस्य भूपतेराज्ञयालिखत् । ताम्रमेतत् सुरादित्यः कायस्थः सर्व-शास्त्रवित् ।।" एपि० इ० जिल्द २ पृष्ठ २३१ वाली प्रशस्ति के लेखक हैं "पण्डिता-धीश्वर" रामदास श्रीवास्तव्य । 'पण्डिताधीश्वर' पद अत्युच्च कोटि वाले पण्डित का ही हो सकता है— 'और निर्मल अक्षरों वाली यह प्रशस्ति श्रीवास्तव्यकुलोद्भव एवं पण्डितों के अधीश्वर (सर्वोपरि पण्डित) रामदास ने लिखी ।'—"श्रीवास्तव्यान्वयेनैषा प्रशस्तिरमलाक्षरा । लिखिता रामदासेन पण्डिताधीश्वरेण च ।।"

कोसगैन-शिलालेख के श्लोक २१-२२—"अस्ति श्रीमाञ्जगन्नाथः कायस्थकुलदीपकः । वाहरेन्द्रस्य विश्वासभूमिर्विश्वोपकारकः ।।२१।। 'वादाहव-विनिर्जेता' सूनुस्तस्येह 'पण्डितः' । नागनाथः सुधीरेनाम्प्रशस्तिमतनोन्मुदा।।२२।।" के 'कायस्थ-कुल-दीपक' श्रीमान् जगन्नाथ, महाराज वाहर के विश्वासपात्र और विश्व के उपकारक थे । उनके विद्वान् पुत्र 'पण्डित' नागनाथ ने जो 'शास्त्रार्थों' के सङ्ग्रामों में विजयी' होते थे इस प्रशस्ति की प्रीति से रचना की । श्लोक १९ के अनुसार कर्णाट से आए इन विद्वद्वर्य नागनाथ को महाराज श्रीवाहर ने अत्युन्मत मत्तगज प्रदान किया जो

मत्त मतङ्गों के भङ्ग में निपुण था। श्लोक २० के अनुसार मोहन-सुत, कायस्थ-वश-प्रसूत, सदा उदार, पृथ्वी में प्रसिद्ध सुधी, रामदास ने इस प्रशस्त प्रशस्ति को लेखबद्ध किया।

इस प्रकार के नृपति-प्रपूज्य, और 'विद्वानों द्वारा आदर-पूर्वक वन्दित' परम विद्वानों के शिरोमणि, कायस्थ पण्डितों की जाति अथवा वर्ण को जो ब्राह्मण-भिन्न समझे, उस को ब्रह्मा भी नहीं समझा सकते हैं।

अब दिग्दर्शनमात्र कुछ संस्कृत-ग्रन्थों के रचने वाले उच्च कायस्थ विद्वानों का वर्णन उन्हीं के ग्रन्थों से यहां दिया जाता है—कलकत्ता संस्कृतकालेज लाइब्रेरी की पोथियों में सङ्ख्या १६ वाली वेदान्त-विषयक पुस्तक "प्रबोधमिहिरोदय" का रचयिता अपना परिचय पृ० ४६ पर यों देता है—'रघुनाथ का पुत्र, कुलीन, सर्व-शास्त्रवित् श्रीमान् मित्र रामेश्वर......कायस्थ मित्र रामेश्वर-नामक तत्त्वानन्द के द्वारा प्रकट किया गया सकलशास्त्रों के तात्पर्य की साधारणी का सङ्ग्रहरूप और तत्त्वज्ञान का प्रदायक "प्रबोध-मिहिरोदय" पुस्तक समाप्त हुआ' "......कुलीनः सर्वशास्त्रवित्।......रघुनाथसुतः श्रीमान् मित्रो रामेश्वरः स्वयम्.......कायस्थ-मित्र-रामेश्वराख्य-तत्त्वानन्देन प्रकटितं सकलशास्त्र-तात्पर्य-साधारणी-सङ्ग्रहं तत्त्वज्ञान-प्रदायकं प्रबोधमिहिरोदयं समाप्तम्॥" उक्त बङ्गाली कुलीन मित्र-कायस्थ सकलशास्त्रों का विद्वान् और वेदान्तग्रन्थकार था।

इसी प्रकार श्रीकरणकुलालङ्कार परमविद्वान् मन्त्रिवर्य हरिदास स्व-रचित "सभाकौस्तुभ" (संस्कृत पोथियों की सूचनाओं की द्वितीय माला जिल्द २, १६०४—पृष्ठ २१३) में अपना परिचय यों देता है—'......अमात्य-वर, श्रुति स्मृति इतिहास पुराणादि सकलशास्त्रों की लगातार यथावत् व्याख्या में विचक्षण,......मैं...... नीति इत्यादि सकल शास्त्रों के सार का आकलन करके "सभा-कौस्तुभ" का समुन्नयन करता हूँ।' "यथावत्सामात्यवरा-नवरत-श्रुति-स्मृतीतिहास-पुराणादि-सकलशास्त्र-व्याख्या-विचक्षण...नीति-प्रभृत-सकलशास्त्राणां सारमाकलय्य......मया सभा-कौस्तुभः समुन्नीयते॥"

यह ग्रन्थकार न केवल श्रुति (वेद) स्मृति (धर्मशास्त्र) इत्यादि सकलशास्त्रों का विद्वान् ही था अपितु उनकी यथार्थ व्याख्या करने में विचक्षण भी था। यह उदाहरण कायस्थों के श्रुतिस्मृत्यादि के अध्यापनाधिकार के औचित्य का पोषक प्रमाण भी है।

अलवर महाराज के पुस्तकालय की पोथियों की सूची सङ्ख्या १६६५ "शार्ङ्गधर-दीपिका" से पता चलता है कि महाराज जैत्रसिंह से शासित हस्तीकान्तपुरी* जो चम्बल नदी के तट पर स्थित थी (कदाचित् वर्तमान जगम्मनपुर, धौलपुर, कोटा—में से कोई एक थी) पहले कश्मीरी विद्वानों से व्याप्त या उपलक्षित थी (अथवा—बम्बई और कलकत्ता की मुद्रित पुस्तकों के अनुसार—विद्वज्जनों के कारण काशी के समान थी)। उन विद्वज्जनों में 'हमीरपुर के वैद्य' वंश वाले श्रीवास्तव्य-कुल के प्रकाशमणि(सूर्य)- रूपी पूर्वजों में से चक्रपाणि समस्त-वैद्य-सङ्घटन-कारक हुए। उनके पुत्र भावसिंह 'भूपति-मान्य' और सुश्रुतादि-रहस्य-विधि-वेत्ता हुए, उनके पुत्र आढमल्ल "शार्ङ्गधर-प्रकाश" टीका के विधाता हुए, जो अदीर्घ-मति और अल्प-निबन्ध-दर्शी (विपरीतलक्षणानुसार, महाबुद्धि और बहुसङ्ख्यक आयुर्वेद- निबन्धों के द्रष्टा) तथा स्वगुरु के अर्चन में तत्पर थे ॥ यह हमीरपुर के वैद्यों का कुल, जिसका गोत्र, पं० हरलाल तान्त्रिक कान्यकुब्ज ब्राह्मण सङ्गृहीत "श्रीवास्तव्यों की गोत्रावली" के अनुसार, 'यस्क' और त्रि-प्रवर 'भार्गव वैतहव्य सावेदस' है, 'राज-मान्य' था। इसी कारण से श्रीवास्तव्यों का 'वैद्य' आस्पद विविध स्थानों के "राज-वैद्य" नाम से भी प्रसिद्ध हुआ।

---

*"हस्तीकान्तपुरी" नाम कोटा नगरी पर सर्वाधिक लागू होता है, क्योंकि वहाँ स्थान-स्थान पर ['लक्ष्मी-पार्श्व-स्थ] हस्तियों' की प्राचीन प्रस्तर-प्रतिमाएँ प्रति-राजमार्ग और प्रति-रथ्या दृश्यमान हैं। यह तथ्य इस निबन्ध-लेखन के पश्चात् १९६५ ई० में कोटा जाने पर प्रकट हुआ।

उक्त 'हमीरपुर के राज-वैद्य' कुल के दो और ग्रन्थकार-लेखक वैद्यों का पता नागरीप्रचारिणी सभा काशी की हिन्दी 'हस्तलिखित पोथियों की वार्षिक रिपोर्ट' १९०५ ई० के पृष्ठ ८२ और १५ से चलता है। प्रथम के सम्बन्ध में स्व० श्यामसुन्ददासजी ने लिखा है— "भिषजप्रिया—ग्रन्थकर्ता सुदर्शन वैद्य—हमीरपुर-निवासी किसी प्रसिद्ध 'पण्डित' के पांच पुत्रों में से हैं।" और इसी पुस्तक की एक अन्य पोथी का वर्णन त्रैवार्षिक रिपोर्ट (१९०६-१९०८) के पृष्ठ २८०-२८१ संख्या ११२ (अ) की पुष्पिका में यों मिलता है— "इति शार्ङ्गधरे...॥ इति श्रीवास्तव्य-कुल-प्रकाशक-वैद्यसुदर्शन-विरचितायां...सन्देश:७॥ संवत् १८७१ शक १७३६" ॥ और एक द्वितीय ग्रन्थ "रस-प्रबोध" (सङ्ख्या १६) के लेखक का परिचय यों मिलता है—"फागुन सुदी ६ संवत् १९०७ मुकाम रसधान लिषतं लाला जुगलकिसोर काइथ वैद हमीरपुर के ॥"

"सरस्वती" (प्रयाग) मार्च १९१५ और जुलाई १९२९ पृष्ठ ४५-५२ से ज्ञात होगा कि वैसवाड़े में एक अत्युत्तम "कनक-प्रकाश" नामक संस्कृत आयुर्वेदग्रन्थ हस्तलिखित(अप्रकाशित) पड़ा है। इसके रचयिता पण्डित रामकृष्ण भी श्रीवास्तव्य कायस्थ हमीरपुर के वैद्य-वंश से थे। इसकी एक प्रति श्रीगङ्गानाथ झा शोधग्रन्थागार इलाहाबाद में भी विद्यमान है, जिस में से प्रारम्भिक अंश (वंश-परिचय) कदाचिद् ईर्ष्यावश लुप्त कर दिया गया है, क्योंकि सम्भवतः उससे रामकृष्ण और इनके पूर्वज श्रीवास्तव्य ब्राह्मण प्रमाणित होते थे।

चण्ड(चामुण्ड)नामक नैगम-जातीय कायस्थ "रस-सङ्केत-कलिका" "ज्वर-तिमिर-भास्कर" नामक संस्कृत आयुर्वेद-ग्रन्थों के स्वतन्त्र रचयिता थे जो मेवाड़ के महाराज कुम्भ के आश्रित राजवैद्य थे। पहला ग्रन्थ बम्बई से प्रकाशित भी हो चुका है। दूसरा अलवर इत्यादि के ग्रन्थालयों में पोथीरूप में प्राप्य है।

अलवर के उक्त पुस्तकालय की सूची, ग्रन्थ-सङ्ख्या १६७२ "रसेन्द्र-चिन्तामणि" के रचयिता बङ्गाली कायस्थ रामचन्द्र गुह थे।

बौद्ध कायस्थ-पण्डित चङ्गदास-कृत व्याकरण-विषयक "सम्बन्धोप-देश" का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। यह १८९६ ई० में विजागापटम् (विशाख-पत्तन) आन्ध्रप्रदेश से प्रकाशित हो चुका है।

श्रीवास्तव्य कायस्थ-पण्डित विद्यानन्द-कृत अनेक व्याकरण ग्रन्थ जो वेदाङ्गरूप पाणिनीय व्याकरण से सम्बन्ध रखते हैं हस्तलिखित पोथियों के रूप में अनेक ग्रन्थागारों की शोभा बढा रहे हैं।

"श्रियान्वय-प्रसूत (श्रीवास्तव्य--वंशज) कायस्थ-कुल-शूली (महेश्वर)" वल्लभदास ने "वेताल-पञ्चविंशति" का सार संस्कृत में लिखा था। उसकी प्रति 'इण्डिया आफ़िस की सं० पु० सूची' के संस्कृत-साहित्य-शीर्षक भाग ७ पृष्ठ १५६४-६५ की सङ्ख्या) ४०९६ में सुरक्षित है। इसका रचनाकाल तो अज्ञात है, परन्तु लिपिकाल १८०८ ई० (सं० १८६५) है।

संस्कृत के कायस्थ-ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थों का विवरण पूर्णतया तो स्वतन्त्र पुस्तक अथवा बृहत् कायस्थेतिहास के एक भाग-विशेष में ही दिया जा सकता है। यहाँ तो केवल दिग्दर्शनमात्र कराना ही उचित था। और यह भी "अध्यापनादि कर्म के सम्बन्ध से देना केवल इस विचार से पर्याप्त है कि ऐसे शील आचार विवेक पुण्य के सदन, वेदादि सकल शास्त्रों के उच्च-कोटि के परम विद्वानों, ग्रन्थकारों, महाकवियों, तत्त्वज्ञानी, राजमान्य, नृपतिप्रपूज्य, सादर-विद्वद्-वन्द्य, बृहस्पति (देव-गुरु) और ब्रह्मा जी से उपमित लोगों को ब्राह्मणों का ही अवान्तर-भेदरूप "कायस्थ"-नामक 'कुल-विशेष' न मानकर, ब्राह्मणेतर मानने पर आग्रह करना केवल विकृत-मस्तिष्कों का ही कार्य हो सकता है। इतना शोध करके जो युक्ति-प्रमाण-प्रतिपन्न पक्ष इस निबन्ध में चित्रित किया गया है, उसके प्रबलतर सयुक्तिक सप्रमाण निराकरण में यदि कोई भी सज्जन बद्धपरिकर हो सफल हो सकें और सफलता-पूर्वक निराकरण करके कोई पक्षान्तर स्थापित कर सकें तो प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रणेता उसे प्रेमपूर्वक स्वीकृत करने में प्रथम पग उठाएगा। क्योंकि मानवमात्र का उद्देश्य तो सत्य के निर्णय और

तदनुसार स्व-स्व-धर्म-पालन से श्रेय की प्राप्ति ही है। राग-द्वेष-जनित दुर्विचार पर कोई ध्यान न दिया जाएगा।

(१४) प्रतिग्रह (दान लेना)

मनु ने (१।८८ और १० । ७४-७५ में) प्रतिग्रह को ब्राह्मण के षट् कर्मों में से एक, और (१०।७६ में) 'विशुद्ध से दान लेना' तीन जीविका-कर्मों में से एक बताया है, जिन्हें (१० । ७७-७८ में) क्षत्रिय और वैश्य के लिए सर्वथा वर्जित किया है। और (१०।८१, ८२, ८३) में कहा है कि यदि स्वकर्म से जीविका न चले तो क्षत्रिय अथवा वैश्य की भी जीविका ब्राह्मण के लिए उचित है, परन्तु कृषि (हल जोतकर खेती करना) ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों यत्नपूर्वक बचावें। फिर (१०।१०१ से ११६ तक) बड़े विवेचन-पूर्वक बतलाया है कि वैश्य-वृत्ति भी न करने वाला ब्राह्मण यदि जीविका के अभाव में कष्टापन्न हो तो शूद्र अथवा अन्त्यज तक से दान लेना रूप गर्हित प्रतिग्रह से भी प्राण-रक्षा करने में दोष नहीं है, जैसे क्षुधार्त अजीगर्त को शुनःशेप-नामक पुत्र वरुण-बलि के लिए दे डालने, वामदेव को कुत्ते का मांस तक खाने के लिए उद्यत हो जाने, भरद्वाज को अपने और पुत्रों के लिए वृधु नामक बढ़ई से बहुत गौएँ प्रतिग्रह में लेने, और विश्वामित्र को चण्डाल के हाथसे कुत्ते का पुट्ठा लेकर खानेतकमें कोई पाप नहीं लगा। विप्र की तीन जीविकाओं में प्रतिग्रह सबसे निकृष्ट है क्योंकि याजन और अध्यापन तो संस्कार-प्राप्तों का ही किया जाता है और उनसे जनित पाप, जप और होमों से दूर हो जाता है, परन्तु प्रतिग्रह तो संस्कारहीन शूद्र और अन्त्यज तक से लिया जाता है जिसका पाप केवल त्याग और तप से ही हट सकता है। प्रतिग्रह से तो, शिल-(खेत में सीला बीनने की) वृत्ति और उससे भी उञ्छ-(मण्डी उठ जाने पर अन्नकण चुनने की) वृत्ति, प्रशस्त है। [कष्ट में] जीवन-रक्षा के १० साधन होते हैं—विद्या, शिल्प, उजरत, चाकरी, गो-पालन, दुकानदारी, खेती, उधार लेना, भिक्षा (मांग खाना), सूदखोरी। और धर्मानुकूल धन आने के ७ मार्ग (द्वार) हैं—दाय पाना,

ख़रीद लेना, जीतना, सूद पर देना, कर्म (खेती वञ्ज-व्यापार) के द्वारा लाभ उठाना, तथा सत्(विशुद्ध,संस्कार-प्राप्त) से प्रतिग्रह (दान लेना)।

इस सबका यह निष्कर्ष है कि ब्राह्मण उस जीविका से यथासम्भव बचता रहे जिससे इसका ब्रह्मतेज नष्ट होता है अथवा ब्रह्म-प्राप्ति में बाधा पड़ती है, और यदि अगत्या ऐसी जीविका करनी हीपड़े तो उचित प्रायश्चित्त द्वारा उसके पाप का प्रमार्जन करे। दो प्रकार के प्रतिग्रह में से सत् प्रतिग्रह(विशुद्धात् प्रतिग्रहः) उतना बाधक नहीं है जितना गर्हित प्रतिग्रह। तथापि जीविका के दोषों का प्रमार्जन करने के लिए ब्राह्मण सदा जप,होम, त्याग (दान), और तप करता ही रहे।

कायस्थों की मुख्य जीविका तो राज-मान्य कर्म ही है जो प्रतिग्रहादि की अपेक्षा से, पाक्षिक वृत्ति, ब्राह्मण के लिए मानी गई है, फिर भी पुत्र-पौत्रादि के लिए यदि उन्होंने कदाचित् देवार्थ या भूमि-विषयक प्रतिग्रह-धर्म का भी अङ्गीकार किया है तो वह भी सत्प्रतिग्रह होने से अनिन्द्य है।

कायस्थो में विभिन्न शताब्दियों से प्रतिग्रह-धर्म के प्रचलित रहने के अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे इनका निःसन्देह ब्राह्मण होना प्रमाणित होता है—(१) डा० फ्लीट-सम्पादित "कॉर्पस् इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्" जिल्द ३, अर्थात् "गुप्त-कालिक अभिलेख", संख्या २७ पृष्ठ १२२-१२३ से विदित है कि उच्छकल्प के महाराज जयनाथ ने [गुप्त-] संवत् १७७ के (जो बहुमत से ४९६-९७ ई०होता है, परन्तु जो विद्वान् इसे ही विक्रमसंवत् मानते हैं उनके अनुसार १२० ई०के) खोह (नागोद, मध्यप्रदेश)से प्राप्त ताम्र-शासन के द्वारा 'धव-षण्डिका' ग्राम, जब तक चन्द्रमा और सूर्य रहें तब तक के लिए शाश्मातनि'-वंशज 'दिविर'(कायस्थ) सर्ववाढ उनके पुत्र भगवद्भक्त (वैष्णव) गङ्ग और उनके भी पुत्रों रङ्कव्रोट और अजगरदास को, निज पुण्य के अभिवर्धनार्थ भगवान् के लिए देवाग्रहार करके दे दिया था और लिख दिया था कि ये चारों ही अपने-अपने पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र और उनके भी पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादि के क्रम से यहां प्रतिष्ठापित भगवान् के बलि(पूजा) चरु(भोग) सत्र (सदावर्त) चलाने इत्यादि के अनुष्ठान और मन्दिर की मरम्मत के द्वारा अपना पुण्य

बढ़ाते रहें।"......विदितं वोऽस्तु यथैव ग्रामो मया चन्द्रार्क-समकालिक-शाशातनेय-सर्ववाढ-दिविर-तत्पुत्र-भागवत-गङ्ग-तत्पुत्र-रङ्क वोटाजगरदासानां स्वपुण्याभिवृद्धये भगवत्पादेभ्यः देवाग्रहारोऽतिसृष्टः। एभिश्चात्र प्रतिष्ठापितकभगवत्पादानां पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र-तत्पुत्रादि-क्रमेण खण्ड-स्फुटित-प्रतिसंस्कारेण बलि-चरु-सत्र-प्रवर्तनाद्यनुष्ठानेन च स्व-पुण्याभिवृद्धिः कर्तव्या.............."

यहां 'दिविर' (कायस्थ) पद केवल वंश के मूलपुरुष का है। इसके वंश को फ्लीट ने भी ब्राह्मण ही माना है। देवाग्रहार का दान केवल ब्राह्मणों को ही दिया जाता रहा है। और ब्राह्मणों को ही दिए हुए दान-लेखों (शासनों) का नियम वर्तमान लेख में अनुपालित हुआ है। इसके भी अन्त में वे ही श्लोक दिए गए हैं जो ब्राह्मणों को दिए दान के शासनों के अन्त में रखने के लिए नियत हैं।

पात्र-ब्राह्मणों को दान देने के अनुवन्ध में याज्ञवल्क्यस्मृति (१।३१८--३२०) का वचन है—

"दत्त्वा भूमिं निबन्धं वा कृत्वा लेख्यं तु कारयेत्। आगामिभद्रनृपतिपरिज्ञानाय पार्थिवः॥ पटे वा ताम्रपट्टे वा स्वमुद्रोपरि-चिह्नितम्। अभिलेख्यात्मनो वंश्यानात्मानं च महीपतिः॥ प्रतिग्रहपरीमाणं दानच्छेदोपवर्णनम्। स्वहस्त-काल-सम्पन्नं शासनं कारयेत् स्थिरः॥"

इसी प्रकार "सरस्वती-विलास" धर्म-शास्त्र-निबन्ध (पृष्ठ १११–११२) में शासन का स्वरूप यों वर्णित हुआ है—"शासनं नाम यत्र भूम्यादिकं निबन्धं वा दत्त्वा ताम्रपट्टे पटे वा स्थानवंशादिसंयुक्तं धरणीवराहप्रतिपादकवचनाशीर्वादपूर्वकमात्मपितृपितामहप्रपितामहादीनां शौर्यादिवर्णनद्वारा आत्मानमभिलेख्य प्रतिग्रहपरिमाणादिकं लिखित्वा समा-मासपक्षाहस्सम्प्रदानग्रामादि लिखित्वा आगामिनृपवोधनार्थं "दातुः पालयितुः स्वर्गं हन्तुर्नरकमेव वा......" इत्यादि लेखनीयम्......प्रतिग्रहीत्रेऽर्पणीयं तस्योपयोगित्वात्। तदपि शासनदानं न दानसिद्ध्यर्थं तस्य प्रतिग्रहेणैव सिद्धेः। किन्तु दत्तस्य स्थैर्यकरणार्थं स्थिरत्वे अक्षय-फलश्रुतेः।" इसका भाव यह है कि शासन उसे कहते हैं जिसमें राजा

भूमि-दान करके या वृत्ति (रोज़ी) बाँध कर उसकी दृढ़ता के लिए, अर्थात् आगे होने वाले भले राजाओं की पूर्ण जानकारी के उद्देश्य से ताँबे के पट्ट या कपड़े पर ऊपर अपनी मुहर का चिह्न डालकर लिखित प्रमाण तैयार करा दे। उसमें अपने वंश्यों (पूर्वजों) तथा अपने आप को लिखा कर प्रतिग्रह (दत्त-वस्तु) का परिमाण या भूमि-सीमाओं का उपवर्णन देते हुए अपने हस्त और काल से संयुक्त शासन, स्थिरचित्त होकर, करा दे। शासन में स्थान और वंशादि भी वर्णित होना चाहिए। काल में वर्ष (संवत्) मास पक्ष दिन का उल्लेख रहे। जिस को दिया जाए उस सम्प्रदान (प्रतिग्रहीता) और उसके ग्राम (निवास-स्थान) तथा जो ग्राम भूमि-भागादि दिया जाय उसको लिखकर आगे होने वाले राजाओं को ज्ञापित करने के लिए "दान देने वाले और उस दान का प्रतिपालन करने वाले को स्वर्ग वा उस दान का उच्छेद करने वाले को नरक होता है" इत्यादि भाव-सूचक श्लोक लिखे जाने चाहिए। इस प्रकार सर्वाङ्गपूर्ण शासन प्रतिग्रहीता को अर्पित करना चाहिए क्योंकि उसी को उपयोगी (कार-आमद) होता है। इस शासन-दान का प्रयोजन दान की सिद्धि (पूर्णता) नहीं है क्योंकि दान की सिद्धि तो प्रतिग्रह-मात्र (अर्थात् प्रतिग्रहीता के द्वारा दान की स्वीकृति भर) से ही हो चुकती है। किन्तु दान के अतिरिक्त शासन-दान का प्रयोजन दी हुई भूमि इत्यादि दान-वस्तु की स्थिरता करने के (अर्थात् दत्त वस्तु सदा के लिए उस प्रतिग्रहीता और उसकी सन्तति की बनी रहे इस) में है क्योंकि स्थिरता में अक्षय फलश्रुति की चरितार्थता है।

(२) गुम्हीं जिला गोरखपुर से प्राप्त संवत् ६२१ (८६४-८६५ ई०) का एक ताम्र-शासन, १६०० ई० के एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल (जिल्द ६९) पृष्ठ ६१-६२ में, प्रकाशित हुआ है। यह वांसी (ज़िला बस्ती) के राजा के यहाँ रक्खा हुआ बताया गया है। इसमें विजयपुर स्थान से शासनों के प्रदान-कर्ता परमशैव महाराज जयादित्य-देव (द्वितीय) ने कुमारषण्डिका नामक ग्राम ४ पल्लिकाओं (नगलों

अथवा पुरवों)—पत्रषण्डा-शङ्कपण्डा-गाद्धी-दउली—के सहित चर-वासक-स्थित कायस्थ रुद्र के पौत्र, कायस्थ धेमुक के पुत्र सिङ्वपद्धति वाले कायस्थ केशव के लिए 'शासन के द्वारा' प्रसार्दाकृत रूप से दान किया था। इन महाराज जयादित्यदेव के विशेषण 'परमभट्टारक-महाराजाधिराज-परमेश्वर' हैं।

इस शासन-लेख में उन सब बातों का निर्वाह दृष्टिगोचर होता है जो ब्राह्मणों को दिए हुए शासन-दानों में नियत रूप से पाई जाती हैं—यथा 'भूमिच्छिद्र-न्यायेन' अर्थात् जैसे भूमि का छिद्र (गड्ढा) बेकार होता है उसी प्रकार से अपने या और किसी के लिए निष्प्रयोजन समझ कर यह भूमिदान जिसे दिया है वह इसका जो चाहे सो करे, 'आ-चन्द्रार्क्क-क्षिति समकालीनं यावत्' जितने काल तक चन्द्र-सूर्य-पृथ्वी रहें तब तक के लिए, प्रतिग्रह का परिमाण और प्रतिग्रहीता का वर्णन 'पूर्व्व-भुक्तभुज्यमान-देव-ब्राह्मण-क्षेत्र-खण्डितः' जो जो क्षेत्र देवताओं और ब्राह्मणों के भोग में पूर्वकाल में आते रहे या वर्तमान काल में आ रहे हैं उन सबसे खण्डित (असँल्लग्न, अमिश्रित), एवं जिन विभिन्न प्रकार के लोगों को इसके विदित होने का आमन्त्रण और आज्ञापन किया गया है वे सब भी इस ग्रामशासन-दान को अनुमत करें, और अन्त में आगामी राजाओं को प्रबोधित करने के लिए दाता एवं पालयिता को स्वर्ग-सूचक (benedictory) तथा छीनने वाले को नरक-सूचक (imprecatory) श्लोकों—"सगर इत्यादि बहुत से राजाओं ने वसुधा का दान किया। पर वह भूमि जब-जब जिस-जिस राजा के शासन में आती है तब-तब उस-उस राजा को [उस दान का परिपालन करने से] वैसा ही फल मिलता है जैसा सगरादि पूर्व-दाता को मिला ॥१॥ जो अपनी दी हुई या दूसरे की हुई वसुन्धरा को छीन ले, वह विष्टा में कृमि होकर पितरों के सहित [कुम्भीपाक नरक में] पकाया जाता है ॥२॥ "देवों और ब्राह्मणों को दी हुई भूमि" का परिपालन भी उसी पुण्य को देने वाला है जो दानकर्ता को मिला करता है ॥३॥ इस लिए लक्ष्मी को कमल के पत्ते वाले जल-बिन्दु के समान लोल (चञ्चल) समझ कर और

मनुष्य-जीवन को भी ऐसा ही चल समझकर एवम् यह सब कुछ जो अभी कहा गया हृदयङ्गम करके पुरुषों को अन्यों के किए हुए दानों की कीर्तियां विलुप्त नहीं करनी चाहिए ॥४॥"—में एक वार फिर "देवों और ब्राह्मणों को दी हुई भूमि के पालन" की बात कहते हुए यह शासन संवत् इत्यादि के विवरण देकर समाप्त किया गया है।

सर्वान्त में करणिक (ब्रह्म-कायस्थ) केशव के विषय में प्रतिग्रह-सूचक श्लोक जोड़ा गया है, जिसमें कुछ विशेषणों के अन्त में "उस करणिक श्रीकेशव ने यह निज शासन अर्जित (प्राप्त) किया" ये शब्द आए हैं जो पूर्ववर्णित कायस्थ वास्तव्य ठक्कुर जाजूक के, चन्देल महाराज से, उनके प्रसन्न होने पर, "दुगौड-नामक ग्राम, और उसके दान का ताम्र-शासन प्राप्त करने" (ग्रामं दुगौडमपि ताम्रकमाशु लेभे) का स्मरण दिलाते हैं।

वर्तमान ताम्र-लेख कई वार 'शासन' शब्द के प्रयोग और पूर्वोक्त विशेषताओं के कारण ब्राह्मणोचित शासन-दान सम्बन्धी होने के साथ 'प्रसाद-लेख्य' भी है क्योंकि इसमें 'प्रसादीकृत:' और 'प्रसादीकृत्य' शब्दों के द्वारा दो वार इस बात का भी उल्लेख किया गया है। "सरस्वती-विलास" से ज्ञात होता है कि राजकीय लेख ५ प्रकार के होते है—१ शासन, २ जय-पत्र, ३ आज्ञा-पत्र, ४ प्रज्ञा-पत्र और ५ प्रसाद-लेख्य। इनमें से 'प्रसादलेख्य' का यह लक्षण (सरस्वतीवि० पृष्ठ ११३ में) मिलता है— "देशादिकं यस्य राजा लिखितेन प्रयच्छति। सेवा-शौर्यादिना तुष्टः प्रसादलिखितं हि तत्॥" अर्थात् जिस किसी की शूरता इत्यादि से प्रसन्न हुआ राजा [जिस] लेख के द्वारा उसे देश-ग्राम-भूमि का प्रदान करता है वह लेख्य 'प्रसादलिखित' कहलाता है।

वर्तमान लेख में भी "अस्माभिरतिसेवाराधितैः⋯शासनेन प्रसादीकृतो मत्वा भवद्भिरनुमन्तव्यः" शब्द राजा की सेवा-हेतुक प्रसन्नता का स्पष्ट उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार जाजूक ठक्कुर वाले लेख में भी 'प्रसन्न होने पर' राजा ने उसे दुगौड ग्राम और उसका दान-सूचक ताम्र-पत्र दिया था और उसके 'सकल-वाङ्मय पार-दृश्वा' पुत्र महेश्वर को भी

महाराज कीर्तिवर्मा ने'कालञ्जर के आस-पास का देश'दान में दिया था।

शासन और प्रसादलेख्य के मिश्रित रूप का यही कारण है कि मन्त्री इत्यादि ब्राह्मण जो'कायस्थ'सीमा में आ जाते थे मनु के षट्कर्मा ब्राह्मणों से कुछ भिन्न रूपवाले होने से अर्थात् मान्य राज-सेवक कोटि में आ जाने से, ब्राह्मण के नाते 'शासन-दान', और मान्य राजकीय सेवक के नाते 'प्रसादलेख्य'-कोटिक दान, के अधिकारी होते थे।

प्रस्तुत शासन-दान के संक्षिप्त शब्द ये हैं,"ओं स्वस्ति। श्रीविजयपुरात् शासनानां प्रदाता परमभाहेश्वर-परमभट्टारकामहाराजाधिराज-परमेश्वर-श्रीजयादित्यदेवः कुशली...समाज्ञापयति च। विदितमस्तु भवतामयमु-परिलिखितग्रामः...भूमिच्छिद्रन्यायेनाचन्द्रार्क्कक्षितिसमकालीनं यावत्पूर्व्व-भुक्त-भुज्यमान-देव-ब्राह्मण–क्षेत्र-खण्डितोऽस्माभिरतिसेवाराधितै-श्चरवा-सकसत्क-'कायस्थ'रुद्रपौत्राय 'कायस्थ'घेमुकपुत्राय सिङ्घपद्धतेः 'कायस्थ'-केशवाय शासनेन प्रसादीकृतो मत्त्वा भवद्भिरनुमन्तव्यः।...बहुभिर्वसुधा दत्ता राजभिस्सगरादिभिः। यस्य-यस्य यदा भूमिस्तस्य-तस्य तदा फलम्॥ स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत्वसुन्धराम्। स विष्टायां कृमिर्भूत्वा पितृ-भिस्सह पच्यते॥ दत्तायाः परिपालनं भवति यद् देवद्विजेभ्यो भुवः ...॥ इति कमलदलाम्बुबिन्दु-लोलां श्रियमनुचिन्त्य मनुष्यजीवितञ्च। सकल-मदमुदाहृतं च बुद्ध्वा न हि पुरुषैः पर-कीर्त्तयो विलोप्याः॥ संवत् ६२१॥ येन......तेनेदं निजशासनं करणिक-श्रीकेशवेनाजितम्॥"

जैसे अधिकांश शासनों (दानपत्रों) में दान-पात्रों के पूर्वज-नामों में भी लगा हुआ "ब्राह्मण"शब्द, 'जाति-सूचक'दृष्टि से नहीं किन्तु, केवल 'कर्म-'सूचक' अर्थ में प्रयुक्त देखा जाता है, वैसे ही यहां भी"कायस्थ"शब्द केवल 'कर्म-सूचक'है। जाति-सूचकता के लिए तो पितामह के, पिता के, और अपने, नाम में, इस प्रकार से ३ वार, इस शब्द के प्रयोग की कोई आव-श्यकता ही न होती। एक वार का ही प्रयोग पर्याप्त होता, क्योंकि जाति पीढ़ी-दरपीढ़ी बदला तो नहीं करती है'जिससे वार-वार जाति-नाम प्रति-पीढ़ी नए सिरे से लिखना आवश्यक हो। केवल यही नहीं कि "कायस्थ" शब्द 'जाति-सूचक' न हो कर यहां केवल 'कर्म-सूचक' है, वल्कि जिस

समय का यह लेख है उसके आस-पास की शताब्दियों तक "कायस्थ" शब्द में किसी जाति-विशेष के अर्थ का गन्ध-मात्र भी नहीं था। केवल राजकीय अधिकारी और कर्मचारी ही जो प्राय: उच्च शिक्षित "ब्राह्मण-जाति" के लोग होते थे "कायस्थ" कहलाते थे। यह द्विजाति ही राजाओं की मन्त्रशक्ति के मूलभूत अमात्य-धर्म का साङ्गोपाङ्ग विकास करने के हेतु उच्चावच-पद-द्योतक कायस्थ-वर्ग में अंशत: परिणत हुई थी। पदस्थ व्यक्तियों के लिए ही "कायस्थ" शब्द प्रचलित था। पदच्युत हो जाने पर वे "कायस्थ" न रह कर पुन: सामान्य ब्राह्मणों की कोटि में परिगणित होने लग जाते थे और सामान्य ब्राह्मण-वृत्ति का अवलम्बन करने के अतिरिक्त और कोई जीविकोपाय उन्हें रह ही न जाता था। पर यदि कहीं ऐसा संयोग प्राप्त होता कि पिता के पद पर या उसी के जैसे पद पर पुत्र भी, और फिर उस का पुत्रादि भी, नियुक्त होते जाते रहते, तो वह पद कुल-क्रमागत हो जाने से, "कायस्थ" नाम व्यक्तियों से बढ कर कुल-विशेषों तक लागू होने लगता था। वर्तमान उदाहरण इसी व्यक्तिगत "कायस्थ" पद का द्योतक होता हुआ, कम-से-कम तीन पीढ़ियों तक लागू होता हुआ, इस बात का भी सूचक है कि नवीं शताब्दी तक यत्र-तत्र 'कायस्थ-कुलों' के बनने का प्रारम्भ हो चुका था। आगे चल कर इसी प्रकार के पीढी-दर-पीढी वाले कायस्थों के अपने ही समान लोगों के भीतर विवाह-सम्बन्ध सीमित होते-होते शनै:-शनै: कायस्थ-कुलों की सङ्ख्यावृद्धि के द्वारा कायस्थों की स्थानीय नैगम, वालभ, इत्यादि जातियां बनने का सूत्रपात हुआ और कायस्थ-शब्द में तत्तत्स्थानीय-जात्यर्थ का गन्ध प्रवेश पाने लगा। Imp.

प्रस्तुत 'कायस्थ'-पदधारी कुल को यदि कोई ब्राह्मणेतर-जाति समझे तो गद्य-भाग में "यावत्-पूर्व-भुक्त-भुज्यमान-देव-ब्राह्मण-क्षेत्र-खण्डित:" यह ग्राम-विशेषण, और पद्यभाग में "देवद्विजेभ्यो दत्ताया भुव: परिपालनम्" ये शब्द, इस दान-लेख के सम्बन्ध में सर्वथा असम्बद्ध अप्रासङ्गिक और व्यर्थ हो जाएंगे, जो किसी सरकारी लेख में व्यर्थ हो नहीं सकते हैं। अत: कायस्थ अथवा करणिककेशव का घराना प्रतिग्रहधर्म

का अधिकारी ब्राह्मण ही सिद्ध होता है।

(३) एपिग्राफ़िया इण्डिका जिल्द २९ के पृष्ठ १८२-१८९ में श्री-डी० सी० सिरकार-सम्पादित, महाराज देवानन्द द्वितीय (उड़ीसा-प्रदेश) का महानदी-तटस्थ दस्पल्ला से उपलब्ध संवत् १८४ का ताम्रशासन-पत्र प्रकाशित हुआ है। ६०६ ई० के हर्ष-संवत् के हिसाब से यह ८वीं शताब्दी ईसवी का होता है। पर सम्पादक ने इसे लेखाक्षर-दृष्टि से ११वीं शताब्दी ईसवी का ठहराया है। इसकी पङ्क्ति २९ इत्यादि ये हैं—……"आदिशति चान्यद् विदितमस्तु भवतामेतद्विषयसम्बद्धे ण्डेड्डा-ग्रामोऽयं स-जल-स्थल-योगः स-गर्तावस्कर-प्रज्ञायमान-चतुःसीम-पर्यन्तो राहियषडग्रामविनिर्गत-वणिग्गोत्रावास्तव्याय सत्त्वगेहि-शास्त्रोपाध्याय-कायस्थ-यशोदत्ताय माहोलपुत्राय मातापित्रोरात्मनश्च पुण्यशोभिवृद्धये ताम्रशासनीकृत्य प्रदत्तोऽस्माभिरतः ताम्रशासने प्रदर्शनादेवास्मत्कार्या-नुरोधाद् यथाकालोपभुज्यमानस्यास्य कैरपि परिपन्थिभिर्न भवितव्यम् ॥ सन्धिविग्रहिणा राज्ञो देवानन्दस्य निर्मिता। प्रशस्तिः परमोदारा यशोदत्तेन धीमता॥" अर्थात् 'महाराज यह भी आदेश करते हैं कि आप लोगों को विदित होना चाहिए कि इस विषय (इलाके) से सम्बद्ध यह 'इण्डेड्डा' ग्राम, जल-स्थल-योग-सहित, गड्ढों और व्यर्थ स्थलों सहित, साफ़ जानी जाती हुई चौहद्दी तक, राहियषड-ग्राम से आकर वणिग्गोत्रा (ग्राम) में बसने वाले, 'सत्त्वगेहि' (सात्त्विकगृहस्थ) और 'शास्त्रोपाध्याय' आस्पदों वाले 'कायस्थ' यशोदत्त के लिए (जो माहोल के पुत्र हैं), माता-पिता के और अपने भी पुण्य और यश की वृद्धि के उद्देश्य से 'ताम्रशासन' (ब्राह्मणों और देवों को दिए दान-लेख) के नियम में रख कर हमने प्रदान कर दिया है—अतः ताम्रशासन में प्रदर्शन के कारण ही हमारे कार्य के अनुरोध से यथासमय उपयोग किए जाते हुए फलों (produce) वाले इस ग्राम-दान के कोई भी परिपन्थी न बनें ॥ राजा देवानन्द के सन्धि-विग्रह-मन्त्री (अर्थात् कायस्थ) धीमान् (पण्डित) यशोदत्त ने यह परम उदार प्रशस्ति निर्मित की ॥'

इसके अनुसार महाराज देवानन्द ने सन्धिविग्रहमन्त्री-रूप कायस्थ

यशोदत्त को जो माहोल का पुत्र, सत्त्वगेही (सात्त्विक गृहस्थ) और "शास्त्रोपाध्याय" (शास्त्रों का अध्यापक) था इण्डेड्डा ग्राम का दान ब्राह्मणोचित ताम्र-शासन-दान-नियम-विधि-पूर्वक किया था। 'कायस्थ'-(मन्त्रि)पदस्थ अध्यापनकर्म-रत यशोदत्त के विप्रोचित अध्यापन और प्रतिग्रह धर्मों का यह अवसे प्रायः १००० वर्ष पूर्व का अतीव पुष्ट और सुस्पष्ट प्रमाण है।

(३ अ) एपि० इ० जिल्द ३० के पृष्ठ २४२ में विहारशरीफ़ से प्राप्त, डी० सी० सिरकार द्वारा सम्पादित और पटना म्यूज़ियम में सुरक्षित जो ताम्र-शासन संवत् १४५२ (१३९५ ई०) का प्रकाशित हुआ है, उस के अन्त में तृतीय श्लोक में बताया गया है—"कायस्थैः सदुपाध्यायैः श्लोकौ प्रीतेश्वरैः कृतौ।" कि पहले के दोनों श्लोक सदुपाध्याय "कायस्थ" प्रीतेश्वरजी के बनाए हुए हैं। बहुवचन में, कायस्थ प्रीतेश्वर का, "सत् (श्रेष्ठ) उपाध्याय" रूप से, यह परिचय ब्राह्मणोचित प्रतिष्ठा और अध्यापन-वृत्ति का द्योतक है। यह १४वीं-१५वीं शताब्दी के कायस्थों की विप्रोचित अध्यापन-वृत्ति के समाज-सम्मत होने का प्रमाण है, जो पृ० ९७ तथा १०३ में भी समाविष्ट होना सङ्गत होगा।

(४) एपि० इ० (जिल्द ३२ पृ० ३१०-३१६) में प्रकाशित लेख के अन्तर्गत शकसं० ९८२ (१०६० ई०) में काश्यप-गोत्रीय कायस्थ-वरिष्ठ महाप्रधान (Chief Minister) नडपनायक, और चण्डनायक के पुत्रों, कायस्थ नूकप, कायस्थ-वरेश्वर सोमनाथ, कायस्थ दामर इत्यादि, को दिए गए ग्राम-दान का विस्तृत वर्णन है।

(५) एपि० इ० (जिल्द ३१, पृष्ठ १९—२४) की पङ्क्ति १८४, १८५, २१२-१३, २२८ में उड़ीसा (शक १२१५) के महाराज नरसिंह द्वितीय के पूतिमाष-गोत्रीय ऋग्वेदीय शाकलशाखाध्यायी, शासनाधिकारी (Head of Gift Department) श्रीकरण (कायस्थ) सेनापति अल्लालनाथ नायक (नाम ब्राह्मण) को दिए हुए वास्तु-सहित जलक्षेत्र की दो वाटिका भूमि-दान का वर्णन है—"पुरो श्रीकरणाल्लालनायक-नलप्रमाणेन···अत्र शासने पूतिमाषगोत्राय ऋग्वेदान्तर्गतशाकलशाखाध्या-

यिने शासनाधिकारिणे अल्लालनाथसेनापतये वास्तु-सहित-जलक्षेत्र-वाटिकाद्वयम् । शासनाधिकारिणा अल्लालनाथसेनापतिना लिखित-मिदम् ।"

(६) इसी जिल्द के पृष्ठ १०७ में महासुदेवराज के सिर(श्री)पुर-शासन से विदित है कि पहले महाराज नन्नपाद ने इस ग्राम का दान पराशरगोत्रीय और कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा वाले करणिक (कायस्थ-ब्राह्मण) कन्सिप्पस्वामी को ताम्रशासन द्वारा किया था—"नन्नपादैस्तैत्तिरीय-पराशरसगोत्र-ब्राह्मण- करणिकनिस्सप्पस्वामिने दत्तः……ताम्रशासनीकृतः ।"

(७) नरवर से प्राप्त, इण्डियन् ऐण्टिक्वेरी जिल्द १५ (१८८६ ई०) पृष्ठ ३९-४० में प्रकाशित, ग्वालियर के कछवाहे राजा महीपाल के सं० ११५० (=१०९३ ई०) में बनवाए हुए पद्मनाथ-मन्दिर की, प्रशस्ति में अन्य ब्राह्मणों को दिए हुए पद-दानों के वर्णन के सिलसिले में श्लोक ७७, ८०, १०६, इत्यादि में 'सूरि' शब्द का प्रयोग "पण्डित" के अर्थ में उन-उन ब्राह्मणों के नामों के साथ किया गया है। उसी सिलसिले में श्लोक ८५ यह है—"ददौ देवपदानां च मध्या-दर्द्धपदं नृपः । विधाय शाश्वतं लोहभट-कायस्थ-सूरये ॥"—'राजा ने पद्मनाथदेव को दिए हुए पदों के मध्य में से आधा पद स्थायी करके "कायस्थ" सूरि (=पण्डित) लोह-भट के लिए दान किया ।'

यहाँ कायस्थ पण्डित भी अन्य ब्राह्मण पण्डितों के समान 'सूरि'-पद-वाच्य है और उसका नाम भी ब्राह्मणत्व का द्योतक है। 'भट' और 'भट्ट' दोनों ही ब्राह्मणों के नामान्त होते हैं। जैसा आर्यभट (जो बहुत बड़े ज्योतिषी थे) के अथवा महाराष्ट्रादि ब्राह्मणों के नामों में अब भी दृष्टिगोचर होता है। देवपदों में का ही आधा पद 'प्रतिग्रह-परिमाण' है और वह भी देवस्थान से सम्बद्ध अन्य ब्राह्मणों को दिए दान के ही सिलसिले में दिया गया था। अतः लोहभट कायस्थ पण्डित का प्रतिग्रहाधिकारी ब्राह्मण होना सिद्ध होता है। भट और भट्ट दोनों एक-जैसे ब्राह्मण-नामान्त होते हैं, इसमें हमारे कैलासवासी गुरुचरणों

श्री६ रामदयालु मिश्र के भी गुरुवर्य स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ज्योतिष-आचार्य-विरचित "गणकतरङ्गिणी" द्रष्टव्य है।

(८) आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी के जर्नल, जिल्द ४ भाग ३-४ (जनवरी—एप्रिल १९३० ई०) पृष्ठ १४७—१६२ में शक ११८३ (१२६१ ई०) का एक काकतीय रुद्रदेव (रुद्राम्बा) का दान-पत्र प्रकाशित हुआ है। उसमें अन्य लोगों के अतिरिक्त जिन तीन विभिन्न कोटियों के दानपात्र ब्राह्मणों का विवरण है, वे हैं—

(१) ६० द्राविड-जातीय 'याजक ब्राह्मण'।

(२) ऋग्-यजुः-साम इन तीन वेदों के ३ अध्यापक; पद (व्याकरण), वाक्य (मीमांसा), प्रमाण (न्याय), साहित्य, और आगम, इन ५ शास्त्रों का प्रति-शास्त्र एक-एक व्याख्याता; और २ विचक्षण (पण्डित) अर्थात् १ वैद्य, १ कायस्थ। इन १० विद्वान् ब्राह्मण पण्डितों में से प्रत्येक को दो-दो पुट्टिका भूमि का दान मिला था। "ऋग्यजुःसाम-वेदानां सम्यगध्यापकास्त्रयः। पद-वाक्य-प्रमाणानां साहित्यस्यागमस्य च। पञ्च व्याख्याकृतो वैद्य-कायस्थौ द्वौ विचक्षणौ। दशानामपि चैतेषां प्रत्येकं पुट्टिका-द्वयम्॥"

(३) मठ और पाकशाला के सेवक, जाति-मात्र के १० अन्य ब्राह्मण ब्राह्मणेतरों में वीरभद्र (ग्रामरक्षक), भट (सिपाही), सुनार, बढ़ई, लोहार तथा अन्य कारीगर लोग हैं।

इससे स्पष्ट है कि कायस्थ-पण्डितों की गणना प्रथम श्रेणी के ६० याजक ब्राह्मणों और तृतीय श्रेणी के जाति-मात्र के १० ब्राह्मणों के मध्य में अर्थात् द्वितीय कोटि वाले विद्वान् (पण्डित) १० ब्राह्मणों की श्रेणी में की गई है। ब्राह्मणेतरों से वे सर्वथा पृथक् हैं। यह इनके स्थिति-क्रम-वर्णन से भी प्रकट है।

फलतः प्रतिग्रहाधिकारी ब्राह्मण के ही नाते यहाँ कायस्थ-पण्डित (विचक्षण) को भी मध्य-श्रेणी वाले ब्राह्मणों के अन्तर्गत ही वेदादिशास्त्रों के अध्यापक ब्राह्मणों के ही समान दान मिला है।

(९) अजयगढ़ वाले (एपि० इ० जिल्द १ पृ० ३३०-३३८

तथा जिल्द ३० पृष्ठ ८८-९० में प्रकाशित) लेखों के अनुसार, महाराज गण्ड के सर्वाधिकारी (महामन्त्री), १४विद्या-निधान, और सकल-कलावित्, जाजूक नामक वास्तव्य कायस्थ ठक्कुर, को महाराज से दुगौड-ग्राम और उसके दान का ताम्रशासन, तथा उसके पुत्र, सकल-वाङ्-मय-पार-दृश्वा, महेश्वर, को महाराज कीर्तिवर्मा से कालञ्जर के आस-पास का देश [नवीं शताब्दी वाले करणिक (ब्रह्म-कायस्थ) केशव के पूर्व-प्रदर्शित प्रकरण के समान, ही, ब्राह्मणोचित "शासन" और "प्रसादलेख्य" के मिश्रित रूप से], दान में पाने का उल्लेख किया जा चुका है। ये उदाहरण क्रमशः १३वीं ११ वीं और ९ वीं शताब्दियों के प्राचीन लेखों से दिए गए हैं।

(१०) एपिग्राफ़िया इण्डिका जिल्द १२ पृष्ठ १६७ और १८४-१८५ में प्रकाशित बृहद् लेख से ज्ञात होता है कि नाना-गोत्रोत्पन्न ब्राह्मणों को १४२ वृत्तियों का दान वेङ्कटपतिदेव महाराय (प्रथम) ने शक १५०८(१५८६ ई०) में दिया था। इन ब्राह्मणों में दो करणिक (कायस्थ) भी थे, एक तो लक्ष्मीकान्त का पुत्र, ऋग्वेदी, कौशिक-विश्वामित्र-गोत्रीय, करणिक दंवण, और दूसरा तिपरस का पुत्र, ऋग्वेदी, श्रीवत्स-गोत्रीय, करणिक तिम्मरस।

'कायस्थ' और 'दिविर' शब्द के समान 'करणिक' शब्द भी केवल कर्म-सूचक शब्द था। इस कर्म या पेशे के लोग सभी प्रदेशों में प्रायः ब्राह्मणों की ही सुशिक्षित जाति के होते थे जैसा अभी तक के प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है। अतः आन्ध्र या तमिलनाडु प्रदेशों के 'कर्णिक' 'करणमु' या 'कर्णम्' कहलाने वाले भी उसी प्रकार ब्राह्मण-प्राय होते थे जैसे असम, वङ्ग, उत्तर-प्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्रादि के 'करणिक'। उदाहरण के लिए निधनपुर ताम्रपत्रों (एपि० इ० जिल्द ३२ पृष्ठ ७५ पङ्क्ति ४९) का "न्याय-करणिक जनार्दन-स्वामी" (७वीं शताब्दी), "करणिक जद्ध गौड"(ए०इ० १।१२९),"करणिक सुवर्णभट्ट" (इण्डि० ऐण्टि० १६।१७५,प० १३) १०वीं शताब्दी, "करणिकोद्गत विद्वान् जह्लण ठक्कुर श्रीवास्तव्य" (ए० इ० ४।१०४।२७)१२वीं शताब्दी,

"करणिक ब्राह्मण चाहड"(उत्तरभारतीय अभिलेख-सूची सङ्ख्या ३५०) संवत् १२२८ (= ११७१ई०) में उदयपुर राज्यस्थित नित्यप्रमोदितदेव का मन्दिर वनवाने वाला और उसके लिए दान देने वाला—ये कुछ नाम यहां विभिन्न प्रदेशों के सम्बन्ध से दे देना पर्याप्त है। सभी का सङ्ग्रह तो एक वृहद् निबन्ध या छोटे-मोटे पुस्तक में ही किया जा सकता है।

श्रीहयवदनराव ने श्रीकरकृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य की स्व-लिखित भूमिका में यह स्वीकार किया है कि राजकीय पदधारी या कर्मचारी ब्राह्मण, "करणिक" अथवा "ब्रह्म-कायस्थ" के नाम से प्रसिद्ध होते थे। उनका यह मत तो निर्भ्रम सत्य है। तथापि जिस सन्दर्भ में उन ने यह मत प्रकाशित किया है वह केवल भ्रम-जनित प्रतीत होता है। क्योंकि उन ने साङ्ख्य-प्रवचन-भाष्य, योग-वार्तिक, इत्यादि के रचयिता श्रीविज्ञानभिक्षु को भी करणिक(कायस्थ)ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्म-कायस्थ समझ-मान लिया है, जो भ्रममात्र है, किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है।

(११) प्रस्तुत निबन्ध के राजतरङ्गिणी वाले अर्थात् "प्रकीर्ण-प्रमाण" उपशीर्षक के ५ वें स्तम्भ में वर्णित "पारिषद्य" या "पार्षद" (राजाओं के दान से स्थापित अग्रहारों अर्थात् देवमन्दिरों मठों वा तीर्थों में हिस्सेदार) पुरोहित-जातीय ब्राह्मणों में से ही कुछ (सहेल, इत्यादि) साक्षात् 'कायस्थ' हुए और कुछ के सम्बन्धी (गौरक, इत्यादि) 'कायस्थ' हुए। एक ओर यह वात, तथा दूसरी ओर 'कायस्थ' पदों से अ-पदस्थ किए गए बहुतों का, भिक्षादि वृत्ति, अथवा पाठ-जप, बुढापे में वेदाध्ययन, इत्यादि, ब्राह्मण-कर्मों का पुनः अवलम्बन लेना, इस तथ्य के सूचक हैं कि "कायस्थ"-पदासीन होने से पहले और "कायस्थ" पद से हटाए जाने (दण्डित होने) के पश्चात्, 'प्रतिग्रह' और 'भिक्षुक'-वृत्ति का अवलम्बन करने वाले, ये लोग, व्यक्ति-रूप से 'कायस्थ' कहाने के पहले और पीछे, अपरिवर्तनीय जाति के नाते, ब्राह्मण ही थे और सदा रहे।

इस प्रकार से कायस्थ-व्यक्तियों अथवा कायस्थ-कुलों में 'प्रतिग्रह'-वृत्ति की भी सत्ता, गुप्त-महाराजों के समय से, १६वीं शताब्दी तक के विभिन्न प्रदेशों वाले उदाहरणों से, सूर्य के समान स्वयंसिद्ध है।

'प्रतिग्रह' वृत्ति-सम्बन्धी उक्त प्रमाणों से सिद्ध प्रतिग्रहाधिकार के फलरूप में राजाओं से ब्राह्मणोचित सत्कार-दान पाने वाले ब्रह्म-कायस्थों (धर्म-द्विजों) के वंशधर आज भी, प० नगेन्द्रनाथ वसुकृत "कायस्थेर वर्ण-निर्णय" (पृ० १२१) बङ्गला और हिन्दी "विश्वकोश" में कायस्थ-शब्द पर निबन्ध, इत्यादि के अनुसार, यदि कहीं-कहीं मठाधीश हैं तो इस में कोई असामञ्जस्य की बात नहीं है। कच्छ के कायस्थों में उपलब्ध 'पौरोहित्य'-कर्म भी 'याजन'कर्म होने के साथ-साथ इस प्रतिग्रह-वृत्ति से सँल्लग्न है।

ऐसी अवस्था में "याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः" ब्राह्मण की इन तीनों मनूक्त वृत्तियों के भी जब कायस्थों में, किसी-न-किसी मात्रा में विच्छिन्न-रूप में ही भले सही, प्रचलित होने के प्रमाण विद्यमान हैं, तो फिर कोई किस मुंह से इन्हें क्षत्रिय, उप-क्षत्रिय, वैश्य, वर्ण-सङ्कर शूद्रादि ब्राह्मणेतर जाति का कह सकता है।

(१५) पण्डित-पद

जैसे परस्पर "नमस्कार" करने का चलन ब्राह्मणों और कायस्थों में ही प्राचीनकाल से चला आ रहा था ऐसे नाम के साथ 'पण्डित' शब्द का यथार्थ (सार्थक) व्यवहार भी इन्हीं (लौकिक और वैदिक) ब्राह्मण विद्वानों के लिए होता आ रहा था। एक ओर तो आजकल इस प्रतिष्ठित पद का अनाप-शनाप प्रयोग अधिकतर निरक्षर और दुराचारी व्यक्तियों तक के लिए केवल इस कारण से किया जाता है कि कभी उनके पूर्वज पण्डित और वेद-शास्त्र-वित् यथार्थ ब्राह्मण थे और इस प्रकार से ब्रह्मर्षियों की वंश-परम्परा को लजाने वाले दुष्कर्मों में प्रवृत्त व्यक्तियों का भी ट्रेड-मार्क बनाया जा कर यह पात्र-प्रतिष्ठा-परिचायक पवित्र "पण्डित" पद अपात्रों के लिए प्रयुक्त होने से अपना महत्त्व और वास्तविक अर्थ खो चुका है। इस विषय की ओर राजतरङ्गिणी-कार कह्लण-पण्डित ने आज से ८०० वर्ष पूर्व ही तरङ्ग ४ के श्लोक ४९१—

तावत् पण्डित-शब्देऽभूद् राज-शब्दादपि प्रथा।
तैस्तैर्दोषैर्न तु म्लानिं कालान्तरवदाययौ ॥

—में सङ्केत कर दिया था, क्योंकि जाति-मात्रोपजीवी ब्राह्मण-ब्रुवों के लिए भी सामान्य रूप से इस पद का प्रयोग तभी से और कश्मीर से ही चालू हो चला था, जो धीरे-धीरे आज समस्त उत्तर भारत में प्रसृत हो गया पाया जाता है। केवल दाक्षिणात्यों और वङ्गप्रदेश में अब भी जो गुण-कर्म से "पण्डित" हैं उन्हीं के लिए, न कि ब्राह्मण-जाति में उत्पन्न सब किसी के लिए "पण्डित" पद प्रयुक्त होने का चलन अवशिष्ट है। इसके विपरीत कश्मीर-पञ्जाब और तत्समीपवर्ती प्रदेशों में इस विशिष्ट पद की बे-हद मिट्टी पलीद की जा रही है। और दूसरी ओर—

"पण्डा नाम सदसद्-विवेकवती आत्म-विषया बुद्धिः सञ्जातास्येति पण्डितः। तारकादित्वात् 'तदस्य सञ्जातम्' इतीतच्।"

पाणिनि ने तारकादि गण के शब्दों में 'इतच्' तद्धित प्रत्यय जुड़ने का नियम इस बात का द्योतक बताया कि वह अर्थात् "तारक" (तारे), "पण्डा" इत्यादि, जिसके उत्पन्न हो जाएँ, उस, 'नभः' (आकाश) 'पुरुष-विशेष' इत्यादि, को 'तारकित' 'पण्डित' इत्यादि कहा जाता है। 'पण्डा' नाम उस बुद्धि का है जो सत् (आत्म) और असत् (अनात्म) विषयों में विवेक करके आत्मा पर ही टिक जाती है। तो पण्डित वही कहला सकता है जो वेद-वेदाङ्गादि-ज्ञान-पूर्वक वेदान्त-वेद्य आत्मा में तदाकार बुद्धिवृत्ति बनाए रखने (अर्थात् सतत समाधि) का अभ्यासी है। अतः यह पद अतिविशिष्ट व्यक्ति-विशेषों तक ही सीमित हो सकता है। इसे किसी जाति के सभी प्राणियों पर व्यवहृत करना तो इसकी खिल्ली उड़ाना है।

लौकिक जीविका वाले ब्राह्मणों, अर्थात् कायस्थों, में ऐसे विशिष्ट जनों के लिए प्राचीन समय से "पण्डित" पद उनके नामों में जुड़ा हुआ संस्कृत शिलालेखों ताम्रशासनों तथा संस्कृत और हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों में एक पर्याप्त सङ्ख्या में मिला है (जिसका सङ्ग्रह इस लघु-

निबन्ध के द्वितीय भाग में किया जा सकेगा), जैसा कि यह पद वैदिक-वृत्ति वाले ब्राह्मणों के विशिष्ट-विशिष्ट व्यक्ति-नामों में उसी प्राचीन काल से उसी प्रकार की प्रमाण-सामग्री में मिलता है। अतः यह ब्रह्म-निष्ठता-द्योतक 'पण्डित' पद कायस्थों के ब्राह्मणत्व का सूचक होता हुआ उन्हें याजकों में से ही निकली शाखा-विशेष सिद्ध करता है।

और जैसा "अध्यापन" उपशीर्षक के अन्त में कुछ उदाहरण दे कर स्पष्ट किया जा चुका है, शतशः कायस्थ उच्च कोटि के संस्कृत-शास्त्रज्ञ कवि तथा व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष, नाटक, काव्य-साहित्य, नीति, धर्मशास्त्र, वेदान्तादि-विषयक उच्च संस्कृत वाङ्मय के ग्रन्थकार हुए हैं। इनमें से कितनेक ग्रन्थ प्रकाशित भी हुए हैं, पर बहुतेरे अभी हस्तलिखित (अप्रकाशित) ही पड़े हैं।

हिन्दी बंगला इत्यादि का तो पुष्कल साहित्य इन्हीं कायस्थों के उर्वर मस्तिष्क और सृजनात्मक कलम के सहयोग की देन है।

(१६) पुस्तक-शीर्षक का उत्तर

वर्तमान पुस्तक का शीर्षक "कायस्थ कौन हैं ?" प्रश्नरूप में रक्खा गया है। यहाँ तक के विचार से इसका उत्तर पाठकों के समक्ष स्वयं ही उपस्थित हो जाएगा। वे शास्त्रीय और लौकिक व्यवहार दोनों पहलुओं से दोनों प्रकार के प्रमाणों और युक्तियों पर गहरा विचार करके जिस परिणाम पर पहुँचेंगे वह अतिसङ्क्षेप में, बल्कि एक शब्द में 'कौन ?' इस प्रश्न का उत्तर है—**'धर्म-द्विज'** इस शब्द में "धर्म" का अर्थ है वैयक्तिक, सामाजिक, जातीय और राष्ट्रीय तथा अन्ताराष्ट्रीय जीवन का सार्वभौम देश-कालाबाध्य नियम (ऋत, सत्य, Law, क़ानून) जिसका सञ्चालक है ब्रह्म (ब्राह्मण)-प्रेरित क्षत्र (राजशक्ति)। "द्विज" वैषयिक प्रलोभनों के शिकार न होने वाले तथा आध्यात्मिक-साधना-प्रधान जीवनादर्श का पालन करने वाले मुख्यतः ब्राह्मण, [गौण रूप से ऐसे क्षत्रिय और वैश्य भी] जो धर्म-रक्षक राजा की मन्त्र-शक्ति (मन्त्रीरूप बल) के रूप में धर्म-कोष के मुख्य रक्षक थे। अतः ब्राह्मणों

की वह शाखा जिसकी प्रेरणा से राजा चातुर्वर्ण्य-धर्म की रक्षा करते आ रहे थे "धर्म-द्विज" हुई जो 'कायस्थ' नाम से प्रसिद्ध हुई। मानव-धर्मशास्त्र का विषय 'धर्म है और परमात्मा के समान प्रेरक यह 'कायस्थ' द्विजाति राजाओं की सम्पूर्ण मन्त्रशक्ति के रक्षक-प्रवर्धक अमात्यधर्म के द्वारा उस धर्म की रक्षिका (गोप्त्री) बनी। 'धर्म-द्विज' शब्द मध्यमपद-लोपी समास है—धर्म-गोप्तारो द्विजाः = धर्मद्विजाः। इनका महत्त्व मनु जी प्रथम अध्याय की समाप्ति से पूर्व यों दिखाते हैं—

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधि जायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोषस्य गुप्तये॥

खेद है कि इतने बड़े उत्तरदायित्व से हटते-हटते ये धर्मरक्षक द्विज रिश्वत की प्रलोभना और आसक्ति में पड़ कर भक्षक बन गए। प्राचीन कायस्थ जातियों के स्थान पर अब तो नये सरकारी कर्मचारियों का भ्रष्टाचार असह्य हो गया है। "अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा, विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः॥"

भगवान् हम सब को असत्पथ से हटा कर सन्मार्ग में प्रेरित करें!! "असतो मा सद् गमय। तमसो मा ज्योति-र्गमय। मृत्यो-र्मामृतं गमय!!!"

प्रकाशक का निवेदन

प्रस्तुत निबन्ध को वयोवृद्ध विद्वान् लेखक ने कई वर्ष पूर्व लिपिबद्ध कर दिया था; किन्तु अनेक कारणों से समयानुसार इसका प्रकाशन सम्भव न हो सका।

पूज्य पण्डित जी के शिष्यों और कुछ उदारमना महानुभावों ने इस पुस्तक के प्रकाशन का कार्य-भार अपने ऊपर ले लिया। आवश्यक धन का सङ्ग्रह कर यह निश्चय किया गया कि इस पुस्तक का प्रकाशन एक स्वतन्त्र प्रकाशन-संस्था द्वारा किया जाय और एतदर्थ 'चित्रगुप्त-प्रकाशन' की स्थिति सम्भव हुई।

चित्रगुप्त भारतीय देवकुल के एक अत्यन्त प्राचीन सदस्य हैं। भारत-ईरानी देवता यम के कालान्तर में वे अङ्गीभूत हुए और देव-कायस्थ की सञ्ज्ञा प्राप्त की। ऐसा प्रतीत होता है कि बारहवीं शताब्दी के आस-पास वे कर्म-साम्य से कायस्थ-कर्म में रत जन-समुदाय के इष्टदेव, और पश्चात् परम्परया उक्त कर्म में संलग्न रहने के कारण 'कायस्थ जाति' में परिणत इसी विशिष्ट प्रशासक वर्ग के पूर्वज अथवा मूलपुरुष के रूप में परिवर्तित हुए। यह देव इस प्रकार प्राक्-मुस्लिम मध्ययुगीन प्रशासन-सम्बन्धी समस्त कृत्यों की अधिष्ठातृ-देवता हैं और हमारे प्रकाशन का प्रेरणा-स्रोत।

चित्रगुप्त-प्रकाशन का श्रीगणेश **'कायस्थ कौन हैं'** —शीर्षक निबन्ध के प्रथम भाग के प्रकाशन से हो रहा है। शीघ्र ही हम इसका दूसरा भाग भी प्रकाशित करेंगे। यदि चित्रगुप्त-प्रकाशन को गुणग्राही विद्वत्समाज से आवश्यक प्रेरणा मिल सकी तो यह अन्य गवेषणात्मक-निबन्धादि के प्रकाशन द्वारा समाज और राष्ट्र की सम्यक् सेवा करता रहेगा।

प्रकाशक